अध्याय 3

कृष्णा सोबती और इंदिरा गोस्वामी: स्त्री होने का अर्थ और स्त्री अस्मिता का संकट

3.1- स्त्रीत्व और स्त्री अस्मिता: अर्थ विस्तार

3.2- परिवार की रूढ़ मान्यताएं, धार्मिक कुरीतियाँ तथा स्त्री अस्मिता का संकट

3.3- अशिक्षा तथा स्त्री अस्मिता का संकट

3.4- वैधव्य तथा स्त्री अस्मिता का संकट

3.5- विवाहेतर संबंध तथा स्त्री अस्मिता का संकट

3.6- कार्यस्थल पर स्त्री अस्मिता का संकट

3.7- सामूहिक हिंसा की त्रासदियाँ और स्त्री अस्मिता का संकट

कृष्णा सोबती और इंदिरा गोस्वामी: स्त्री होने का अर्थ और स्त्री अस्मिता का संकट

3.1- स्त्रीत्व और स्त्री अस्मिता: अर्थ विस्तार

'स्त्रीत्व' या 'Feminity' को स्त्री की प्रकृति या 'womanishness' के रूप में परिभाषित किया गया है।[1] सिमोन द बोउवार लिखती हैं, "औरत किसी रहस्यमय भवितव्यता का शिकार नहीं। उसका वह निरालापन, जो उसे औरतपन के चौखटे में फिट करता है, वास्तव में इसलिए है कि औरतपन की इन विलक्षणताओं को समाज महत्व देता है, परंपराओं और रूढ़ियों से ये आरोपित हैं।[2] इस दिशा में हो रहे विशिष्ट अध्ययन से यह तथ्य भी उद्घाटित हुआ है कि 'स्त्रीत्व' की अवधारणा सामाजिक रूप से निर्मित की गई है। यह आज भी शोध का विषय है कि 'स्त्रीत्व' की अवधारणा जैविक, सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से कितना प्रभावित है। पारंपरिक रूप से शालीनता, सौम्यता, सहानुभूति, विनम्रता तथा संवेदनशीलता इत्यादि को स्त्रियोचित गुणों में गिना जाता है परंतु 'स्त्रीत्व' की परिभाषा तथा स्त्रियोचित गुण समाज और व्यक्ति सापेक्ष होते हैं। सिमोन द बोउवार का मानना है कि मनुष्य जाति के लिंग विभाजन को गंभीरता से समझने की आवश्यकता है क्योंकि मनुष्य जाति का दो लिंगों में विभाजन कभी भी स्पष्ट नहीं रहा है। "It must be noted that the very meaning of the division of species into two sexes is not clear."[3] रोहिणी अग्रवाल 'लैंगिक विभाजन' को सामाजिक संकट की भांति देखते हुए लिखती हैं, "लैंगिक विभाजन क्या सबसे पहले मनुष्यता को ही छिन्न-भिन्न नहीं करता? लैंगिक विभाजन के आधार पर संबंध नहीं बनते, बनता है संबंधों का सत्ता विमर्श। "[4] स्त्रीवादी मानव विज्ञानियों द्वारा ऐसे समाजों के बारे में भी पता चला है जहां स्त्री और पुरुष के बीच की सेक्सुअल असिमिट्री का किसी एक लिंग की प्रभुत्व या अधीनता से कोई संबंध नहीं होता है। ऐसे समाजों में स्त्री तथा पुरुष को एक दूसरे का पूरक समझा जाता है। युवाल नोआह हरारी मानते हैं कि 'स्त्रीत्व' और 'पुरुषत्व'

को परिभाषित करने वाले अधिकांशतः नियम-कानून और बाध्यताएँ जैविक सत्य के स्थान पर काल्पनिक सत्य पर आधारित हैं। "Most of the laws, norms, rights and obligations that define manhood and womanhood reflect human imagination more than biological reality."[5] इसी काल्पनिक सत्य के आधार पर 'स्त्रीत्व' तथा 'पुरुषत्व' की छवियों को रूढ़ बना दिया गया। स्त्रीवादी लेखक सुजाता लिखती हैं, "स्त्री में कामेच्छा निंदनीय-दंडनीय हुए तो पुरुषों में भावनात्मकता और कोमलता। सभ्यताएँ तरक्की की राह चलीं तो पता लगा कि जिन्हें साथी होना था, वे हर मुद्दे पर एक-दूसरे के आमने-सामने युद्धभूमि में खड़े दिखाई देने लगे। "[6] यह सामाजिक कन्डीशनिंग ही है जिसके अंतर्गत नवजात बालिका को बचपन से ही औरत बनने की ट्रेनिंग दी जाती है तथा बचपन से ही लड़के और लड़कियों के अलग-अलग खेल भी परिभाषित कर दिए जाते हैं। "हम बचपन से ही बच्चियों को औरत बनाने में जुटे हैं और लड़कों को मर्द, एक को गुड़िया पकड़ाते हैं और एक को कार, बंदूक या रामलीला पर धनुष-गदा; यह एक ऐसा तरीका है समाजीकरण का, जिसमें लड़का-लड़की एक दूसरे के साथी बन कर नहीं बल्कि एक-दूसरे के राह के अवरोधक बनकर बड़े होते हैं। "[7]

उपरोक्त मतों के आधार पर कहा जा सकता है कि जेंडर के वर्गीकरण का आधार सामाजिक और सांस्कृतिक मान्यताएँ हैं। इन रूढ़िगत मान्यताओं का ही प्रभाव है कि समाज को मात्र दो लिंगों में विभाजित करने से अन्य लैंगिक असमानताओं को सामाजिक व्यवस्था से बाहर मान लिया जाता है। निवेदिता मेनन लिखती हैं कि एक स्वस्थ नारीवादी नजरिए से देखने पर हम यह समझ पाते हैं कि किस प्रकार जेंडर ही वह धूरी है जिस पर सामाजिक व्यवस्था टिकी हुई है तथा 'पुरुष' और 'स्त्री' जैसे परिचय चिन्हों के साथ जीना दरअसल दो अलग-अलग सच्चाइयों के साथ जीना होता है। [8] इसके अतिरिक्त श्रम को भी जेंडर के आधार पर विभाजित किया जाता है। घरेलू कार्यों को मुख्य रूप से स्त्री की जिम्मेदारी समझा जाता है जबकि श्रम का इस प्रकार से यौनिक विभाजन स्वाभाविक नहीं है। 'मानुषी' पत्रिका के संपादकीय के अनुसार "बाहर जाकर नौकरी करने वाली

स्त्री हो या घर में रहने वाली, सारे घरेलू कामकाज और बच्चे की देखभाल की जिम्मेदारी उसी की होती है। हमारे देश की लाखों-करोड़ों स्त्रियाँ बचपन से ही कोल्हू के बैल के मानिंद इन कार्यों में जोत दी जाती हैं। जो उम्र उनके पढ़ने और खेलने की होती है, उसमें वे माँ का हाथ बँटाने लग जाती हैं, ताकि घर के लोगों को खाना मिल सके और शायद भाई स्कूल जा सके। नतीजा यह है कि भारत में कुल जितने अनपढ़ हैं, उनमें दो-तिहाई हिस्सा हम औरतों का है।"[9] निवेदिता मेनन इस तथ्य पर जोर देती हैं कि इस तरह के श्रम विभाजन का मुख्य उद्देश्य स्त्रियों के कार्य को कम आंकना तथा कम वेतन प्रदान करना है। "नारीवादियों का मानना है कि अध्यापन और नर्सिंग का 'स्त्रीकरण' इसलिए हुआ है क्योंकि ऐसे कार्यों को स्त्रियों की घरेलू जिम्मेदारी-देखभाल आदि करने का ही विस्तार मान लिया जाता है। "[10] श्रम का इस प्रकार से यौनिक विभाजन स्त्रियों के करियर में एक बड़ी बाधा के रूप में सामने आता है। प्रायः स्त्रियाँ अपनी निजी पहचान, स्वत्व के प्रति सचेत नहीं रहतीं। रोहिणी अग्रवाल कहती हैं कि पितृसत्तात्मक व्यवस्था में यह सामान्य है कि स्त्री स्वयं अपनी नामरूपी पहचान से भी अनभिज्ञ हो। वह लिखती हैं, "औरतों के नाम खुद औरतों को याद नहीं रहते। उनसे नाम छीन लिए जाते हैं ताकि कोई अलग पहचान न बना सके। नाम विहीन व्यक्ति, चेहरा विहीन व्यक्ति हो जाता है पहले, फिर भावहीन, विचारहीन, व्यक्तित्वहीन। औरत की पहली लड़ाई अपना नाम पाने की होनी चाहिए। पद नहीं, विशेषण नहीं, नाम। अपनी अलख जागता, धुनी रमाता नाम। "[11] स्त्रीत्व की अवधारणा को छलरूपी प्रवंचना की भांति देखते हुए रोहिणी अग्रवाल लिखती हैं, "स्त्री की भरपूर ठोस लौकिक स्वतः स्फूर्त इयत्ता को क्षरित कर किन्हीं महिमामंडित दैवीय अमूर्तनों में बांधने की क्रमिक प्रक्रिया है स्त्रीत्व की रचना। खंडों में विभाजित स्त्री अपूर्ण, निर्भर और अडोल रहे; हृदय, बुद्धि, गति और कर्मठता को जोड़कर किसी एक दिशा की ओर प्रयाण न कर सके। स्त्री की तेजस वैयक्तिक अस्मिता की हत्या कर स्त्रीत्व उसे लैंगिक इकाई बनाता है- पुरुष की परिक्रमा में जीवन पाती लैंगिक इकाई। मातृत्व, सतीत्व, गृहणीत्व-स्त्रीत्व की संरचनाएं। स्त्री को छलती प्रवंचनाएं। "[12] पितृसत्तात्मक व्यवस्था द्वारा स्त्री को स्त्रीत्व के

पारंपरिक ढांचे में बंधे रहने की हिदायत दी जाती है जिससे वह अपनी बौद्धिक, शारीरिक और वैयक्तिक क्षमताओं का विकास कर पुरुषों की बराबरी न कर सके। परंतु आधुनिक स्त्री इस तथ्य से अनभिज्ञ नहीं कि स्त्रीत्व की संरचना के भीतर कैद कर उसका महिमामंडन करना मात्र एक ढकोसला है। इस संबंध में प्रभा खेतान लिखती हैं, "स्त्री को स्त्रीत्व के मानचित्र में सीमित करना उसी भाववादी अमूर्तन की कोशिश है जिससे आज की स्त्री बचना चाहती है। "[13]

हिंदी साहित्य ज्ञानकोश के अनुसार **अस्मिता** शब्द लैटिन के आइडेंटिटी शब्द का हिन्दी अनुवाद है। आइडेंटिटी शब्द 'आइडेंटिकस' तथा 'आइडेम' से मिलकर बना है जिसका अंग्रेजी में अर्थ 'सेमनेस' या 'वही' है।[14] अस्मिता का अर्थ 'स्व' या 'निज' की पहचान से है। उपनिषदों में 'आत्मानं विद्धि, के माध्यम से कहा गया है कि स्वयं को पहचानो। 'अस्मिता' आत्मज्ञान से जुड़ा हुआ शब्द है। स्वयं के प्रति सजग व्यक्ति अपनी अस्मिता के प्रति भी सचेत रहता है। सत्रहवीं सदी में देकार्त की उक्ति 'मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ' के आधार पर अस्मिता का अर्थ मनुष्य की चिंतन प्रवृत्ति से जुड़ा हुआ था। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में ऐमील दुरखीम ने कहा कि व्यक्ति एक स्वतंत्र सत्ता न होकर सामाजिक प्राणी है अतः उसकी अस्मिता, उस संस्कृति से जुड़ी हुई होती है जिसमें वह जन्म लेता है। मनोविज्ञान में अस्मिता का संबंध व्यक्ति की आत्मछवि से होता है जबकि समाजशास्त्र के अनुसार अस्मिता को समाज से जुड़ा समझा जाता है। सामाजिक अस्मिताओं के निर्धारण का मुख्य आधार धर्म, जाति, राष्ट्र, स्थान, जेंडर इत्यादि होता है। ज्ञान की विभिन्न शाखाओं में से एक नृविज्ञान द्वारा भौगोलिक सीमारेखाओं द्वारा अस्मिता का विश्लेषण किया जाता है यथा अंडमान की जनजातियाँ, बस्तर की जनजातियाँ इत्यादि।

आधुनिक काल में अस्मिता मूलक विमर्श हमारे समक्ष प्रस्तुत है। अस्मिता विमर्श द्वारा समाज में किसी भी वर्ग विशेष के वर्चस्व का विरोध किया जाता है। स्त्रीविमर्श, दलित विमर्श तथा किन्नर विमर्श इत्यादि के मूल में स्वयं के प्रति चेतनता है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था में विभिन्न प्रकार के नियम-कानून तथा आचार-संहिता द्वारा स्त्री को सदैव दहलीज के भीतर रखने की हिदायत दी जाती

है। परंतु प्राचीन काल से ही स्त्रियों ने अपनी अस्मिता और वजूद को पहचानते हुए अपने अधिकारों की लड़ाई लड़ी है। अस्मितामूलक विमर्शों के माध्यम से ही हाशिए पर रखी गई अस्मिताओं द्वारा स्वयं के अस्तित्व के प्रति चेतना जागृत हो रही है। इस संदर्भ में 'स्त्री अस्मिता' एक व्यापक अवधारणा है जो स्त्री चेतना और स्त्री सशक्तिकरण से जुड़ी हुई है। मनुस्मृति द्वारा स्त्रियों के विषय में कहा गया है कि जीवन की प्रत्येक अवस्था में स्त्रियों को पुरुष के नियंत्रण में ही रहना चाहिए।

"पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।/ रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातंत्र्यमहर्ति।।"[15]

अर्थात जन्म से लेकर मृत्यु तक एक स्त्री कभी स्वतंत्र नहीं रह सकती परंतु स्त्री चेतना के फलस्वरूप स्त्रियों का अपनी स्वतंत्रता के लिए संघर्ष शुरू हुआ। वस्तु से व्यक्ति बनने का संघर्ष ही 'स्त्री अस्मिता' को स्थापित करता है। 'स्त्री अस्मिता' का प्रश्न लैंगिक समानता से जुड़ा हुआ है। पितृसत्ता द्वारा जहां स्त्रियों को भिन्न-भिन्न बंधनों में जकड़ा जाता है वहीं स्त्री अस्मिता का बोध इस जकड़न से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करता है। स्त्री अस्मिता के संदर्भ में यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि स्त्री अस्मिता के निर्धारण के क्या मापदंड हैं? यदि पुरुषों के संदर्भ से स्त्री अस्मिता निर्धारित की जाएगी तो स्त्री सदैव मातहत की श्रेणी में रहेगी। स्त्री की स्वतंत्र छवि को सामने लाने के लिए यह आवश्यक है कि स्त्रियाँ अपनी अस्मिता के प्रति स्वयं सचेत हों।

3.2- परिवार की रूढ़ मान्यताएं, धार्मिक कुरीतियाँ तथा स्त्री अस्मिता का संकट

भारतीय समाज का ढांचा शुरू से ही पितृसत्तात्मक रहा है। "इसके इर्द-गिर्द जिन सामाजिक मूल्यों का निर्माण होता है वे सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन के हर पहलू में पैठ जाते हैं। महिलाओं के प्रति भेदभाव और अधिकारों का वंचन उसके जन्म से ही शुरू हो जाता है।"[16] जगदीश्वर चतुर्वेदी ने 'स्त्रीवादी साहित्य विमर्श' में जनार्दन भट्ट के लेख 'हिंदुओं की सम्मिलित परिवार की कुप्रथा से हानियाँ' (जनवरी, 1914) के उल्लेख किया है जिसमें जनार्दन भट्ट ने संयुक्त परिवार को स्त्री स्वाधीनता की सबसे बड़ी बाधा माना है। जनार्दन भट्ट लिखते हैं, "कुप्रथा के कारण स्वतंत्रता का

भाव हृदय से मिट जाता है, काहिली और मूर्खता बढ़ती है, वैमनस्य की उत्पत्ति होती है, मुकदमेबाजी में समय और रुपए का व्यर्थ नाश होता है, और स्त्रियों की अधोगति का ठिकाना नहीं रहता।(भट्ट, जनार्दन/सरस्वती, जनवरी 1914/31)"[17]

मनु संहिता की उक्ति 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमंते तत्र देवता'[18] द्वारा स्त्री को देवी की पदवी दी गई है। कालांतर में यही देवी की पदवी स्त्री समाज की विडंबना बन गई। समाज तथा परिवार में स्त्री के देवी रूप को वरीयता दी जाती है। स्त्री का यह देवी रूप विभिन्न प्रकार के पारंपरिक बंधनों, मान्यताओं और रूढ़िगत धार्मिक कर्मकांडों की बेड़ियों में जकड़ा हुआ है। इस संदर्भ में महादेवी वर्मा 'शृंखला की कड़ियाँ' में लिखती हैं, " 'स्त्री न स्वातंत्र्यम अहर्ति' शास्त्र ने कहा है न! जिसके चरणों में उसका जीवन निवेदित है यदि वह उसे सन्दूक में बंद बालक की गुड़िया के समान संसार की दृष्टि से, सूर्य की धूप और पवन के स्पर्श से बचाकर रखना चाहता है तो भी सब इस कार्य के लिए उसे साधुवाद ही देना उचित समझेंगे। उनके विचार में नारी मानवी नहीं, देवी है और देवताओं को मनुष्य के लिए आवश्यक सुविधाओं का करना ही क्या है! नारी के देवत्व की कैसी विडंबना है!"[19] समाज और परिवार की रूढ़ मान्यताएं तथा धार्मिक कुरीतियाँ स्त्री अस्मिता के संकट के मुख्य कारकों में से एक हैं तथा स्त्री-विकास के मार्ग में बाधक हैं।

कृष्णा सोबती तथा इंदिरा गोस्वामी ने समाज तथा परिवार के भीतर स्त्री के अस्मिता संकट का चित्रण अपनी रचनाओं द्वारा किया है। कृष्णा सोबती स्वयं मानती हैं कि संयुक्त परिवारों में स्त्री को सुरक्षा तो मिलती है पर यही संयुक्त परिवार स्त्री के आत्मविश्वास पर एक बड़ा प्रश्न खड़ा करते हैं। "संयुक्त परिवार में जितनी भी खूबियाँ हों, यह आपको और स्त्रियों को कितनी भी सुरक्षा देता हो, पर उनके आत्मबल, आत्मविश्वास को कम कर देता है। "[20] कृष्णा सोबती लिखती हैं, "व्यक्ति द्वारा व्यक्ति का शोषण परिवार के बाहर ही नहीं, परिवार के अंदर भी होता है। दरअसल वह परिवार से ही शुरू होता है। परिवार एक रीढ़ है, जिसमें सारा परिवार लगभग एक संसार में धड़कता-कुलबुलाता लगता है, पर एक होता नहीं है। विपरीत कोलाहल, कुलीनता, शालीनता, शिष्टता

और भर्त्सना, अपमान, वर्जना- कमजोर आदमी घेर लिया जाता है। संयुक्त परिवार की जटिलताओं के तनाव और दबाव ही उसके विघटन का कारण रहे हैं।"[21]

कृष्णा सोबती के प्रथम उपन्यास 'डार से बिछुड़ी' में स्त्री अस्मिता का संकट बेहद मार्मिक रूप में चित्रित हुआ है। उपन्यास की मुख्य पात्र पाशो एक ऐसा चरित्र है जिसकी अस्मिता को बुरी तरह से कुचल कर उसे केवल भोग्या बना दिया गया। पाशो का जन्म पंजाब के एक कस्बे के प्रतिष्ठित खत्री परिवार में हुआ था। पाशो के पिता की मृत्यु के बाद उसकी माँ उसे नानी के घर में छोड़ कर शेख जी से विवाह कर लेती है। पाशो के मामा, मामी और नानी को यही लगता है कि पाशो भी माँ की तरह ही कोई कदम उठाएगी जिससे खत्री परिवार की प्रतिष्ठा धूल में मिल जाएगी। जब उसके मामा को पता चलता है कि पाशो शाहआलमी के एक मुस्लिम लड़के से मेल-जोल बढ़ा रही है तो वह उसे मेला दिखाने के बहाने मारने का निर्णय लेते हैं। इस डर से आधी रात में मामा-मामी के घर से भागी पाशो को यह जरा सा भी भान नहीं था कि नानी की कही बात, "संभल कर री, एक बार का थिरका पाँव जिंदगानी धूल में मिल देगा। "[22] उसके लिए अक्षरशः सच साबित हो जाएगी। पाशो के सामने अस्मिता का संकट तब खड़ा होता है जब दीवान जी की मृत्यु के बाद उसे धूर्त बरकत दीवान की संपत्ति बनने पर मजबूर होना पड़ता है। बरकत दीवान के हाथों 'द्रौपदां' बनकर, बूढ़े पिता और तीन पुत्रों के परिवार में बेच दी जाती है। पिता और पुत्रों की हर तरह से सेवा को बाध्य, दैहिक और मानसिक शोषण की शिकार पाशो व्यथित है, "आँगन के बीचोंबीच छोटे कुएं की चरखड़ी पर लज लटकती थी। गागर उठा नीचे बहा दी तो जान पड़ा, मैं भी चरखड़ी पर चढ़ी लज हूँ। कभी इस गागर, कभी उस गागर!"[23] इस घर में भी वह मझले पुत्र की 'नवेली' तो बनती है परंतु मँझले जैसे पुरुष, स्त्री को मात्र देह रूप में स्वीकार करते हैं। खालसा फौजों की फिरंगियों से हुई लड़ाई में मारे गए मँझले के घर से निकल कर पाशो मलिक सरदार की शरण में पँहुचती है। मलिक सरदार के यहाँ मिला सम्मान भी क्षणभंगुर रहता है। अंग्रेजों द्वारा खालसा फौजों की हार के बाद पाशो मलिक सरदार की रखैल कह कर पुकारी जाती है। वरिष्ठ आलोचक

रोहिणी अग्रवाल का कहना है, "हाड़-मांस की पाशो सौन्दर्य का आगार भले ही हो, व्यक्ति वह कभी नहीं रही। न समाज की दृष्टि में, न स्वयं की दृष्टि में। सभी अपनी सुविधानुसार उसकी खरीद-फरोख्त करते रहे और वह मूक-बधिर भाव से हर सौदे को सिर झुका कर स्वीकारती रही। "[24]

कृष्णा सोबती के उपन्यास 'मित्रो मरजानी' में मित्रो की सास धनवंती तथा जिठानी सुहागवंती स्त्रियों के उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करती हैं जो अपनी अस्मिता तथा पहचान को मात्र पारिवारिक दायरे के भीतर ही देखती हैं। परिवार तथा पति की सेवा को ही स्त्री धर्म समझने वाली धनवंती तथा जेठानी सुहागवंती के लिए परिवार की मान-मर्यादा ही उनकी अस्मिता है। अपनी निजी पहचान बनाना इस वर्ग की स्त्रियों के लिए कोई महत्व नहीं रखता है। धनवंती के लिए पति का स्थान, मालिक का स्थान है। मझली बहू मित्रो की अपने बेटे सरदारी से पिटाई पर धनवंती पहले तो सरदारी को समझाती है फिर मित्रो को समझाते हुए कहती है, "समित्रावन्ती इसे जिद चढ़ी है तो तू ही आँख नीची कर ले। बेटी, मर्द मालिक का सामना हम बेचारियों को क्या सोहे?"[25] धनवंती की बड़ी बहू सुहागवंती भी सास की तरह नियम-कायदों की लीक पर चलने वाली आचार-धर्म में बंधी स्त्री है। देवरानी मित्रो के बेबाक आचरण पर कहती है, "इस कुलबोरन की तरह जनानी को हया न हो तो नित-नित जूठी होती औरत की देह निरे पाप का घट है। "[26] मित्रो को समझाते हुए वह कहती है, "देवरानी, बहू-बेटियों के लिए तो घर गृहस्थी की रीति ही लच्छमन की लीक। जाने-अनजाने फलाँगी नहीं कि ..."[27]।

कृष्णा सोबती के उपन्यास 'ए लड़की' में वृद्धा अम्मू का चरित्र जहां परंपरागत भारतीय नारी का प्रतिनिधित्व करता है वहीं अम्मू की लड़की का चरित्र अपने पैरों पर खड़ी, स्वतंत्र आधुनिक नारी का प्रतिनिधित्व करता है। यही इस उपन्यास का बेहद खूबसूरत पक्ष है कि दो विभिन्न दृष्टियों का प्रतिनिधित्व करते इन पात्रों में टकराव नहीं बल्कि पुरानी और नई पीढ़ी के बीच संवाद है। अम्मू का कहना है परिवार में औरत की स्थिति नदी पर चलते शिकारे के माँझी की भाँति हो जाती है जिसमें बैठ कर परिवार के सभी सदस्य तो आनंद लेते हैं पर चप्पू चलाने की जिम्मेदारी माँ के

कंधों पर ही होती है। औरत की स्थिति तभी सुधर सकती है जब वह आर्थिक रूप से स्वतंत्र और आत्मनिर्भर हो। अम्मू ने जीवनपर्यंत पारिवारिक जिम्मेदारियों को निभाया है अतः वह जानती है कि परिवार के भीतर अपनी नाम और पहचान खो कर स्त्री के स्वतंत्र व्यक्तित्व का विलयन हो जाता है वह मात्र किसी की बहू, पत्नी तथा माँ के रूप में ही जानी जाती है। अपनी लड़की को पहचान खोने का मर्म समझाते हुए वह कहती है, "लड़की, अपने आप में आप होना परम है, श्रेष्ठ है! चलाई होती न परिवार की गाड़ी तुमने भी; तो अब तक समझ गई होती कि गृहस्थी में सारी शोभा नामों की है। यह इसकी पत्नी है, बहू है, माँ है, नानी है, दादी है! फिर वही खाना, पहनना और गहना! लड़की वह नाम की ही महारानी है। सब कुछ पोंछ-पांछ कर उसे बिठा दिया जाता है अपनी जगह पर!"[28] परिवार में बंधी स्त्री को हर मोड़ पर स्वयं को योग्य साबित करना होता है। "लड़की, परिवार वाली औरत को अपने में क्या-क्या हुनर जगाने पड़ते हैं और क्या-क्या अंकुश लगाने होते हैं, यह तुम्हें नहीं मालूम। तुम तो अपने में आजाद हो। तुम पर किसी की रोक-टोक नहीं, जो चाहे कर लो। "[29] 'ए लड़की' में अम्मू के माध्यम से कृष्णा सोबती ने औरतों की सामाजिक कन्डीशनिंग की ओर भी संकेत किया है। किस प्रकार जन्म से ही परिवार की लड़कियों को औरत बनाने का प्रशिक्षण दिया जाता है। लड़कियों की पारिवारिक और सामाजिक कन्डीशनिंग नारीवादियों के मध्य चर्चा का विषय रही है। अम्मू का कहना है, "लड़कियों को तैयार ही जानमारी के लिए किया जाता है- भाई पढ़ रहा है, जाओ दूध दे आओ। भाई सो रहा है, जाओ कंबल ओढ़ा दो। जल्दी से भाई को थाली परस दो। उसे भूख लगी है। भाई खा चुका है। लो, अब तुम भी खा लो। "[30]

उपन्यास 'दिलोदानिश' में बउवा जी जैसी स्त्रियों के लिए स्वयं की अस्मिता कोई अर्थ नहीं रखती। बउवा जी जानती हैं कि ईश्वर ने स्त्रियों को पुरुषों से कमतर ही बनाया है। बउवा जी अपनी माँ की दी नसीहतों को ही औरत का धर्म मानती हैं। बउवा जी की माँ ने उन्हें समझाया, "देख पुच्ची, जो हमने देखा है, सहा है, कमोबेश वही तो तुम भी देखोगी और सहोगी। मरदों के हिस्से में आए हैं

महफ़िल, मुजरे, खेल-तमाशे और औरत को लगे हैं बाल-बच्चे, दिन-त्योहार, पूजा-व्रत। रोने-धोने से क्या कुछ बदलने वाला है! अब जैसा जो कुछ है। चलाती चलो। सो बहू जी, जो तुम्हारे साथ हो रहा है वह भी कुछ नया नहीं है।"[31]

इंदिरा गोस्वामी ने अपने उपन्यासों में सामाजिक-पारिवारिक बंधनों तथा धार्मिक कुरीतियों की बेड़ियों में जकड़ी स्त्रियों का हृदय स्पर्शी चित्रण किया है। धार्मिक कुरीतियाँ सामाजिक विद्वेष को बढ़ावा देती हैं, इस संबंध में जगदीश्वर चतुर्वेदी लिखते हैं, "धर्म ने मनुष्य को, समाज को, स्त्री-पुरुष को, गरीब-अमीर को, छोटे-बड़े को, सभी को जोड़ने के बजाय तोड़ने एवं एक-दूसरे के विरोधी बनाने का कार्य किया। अतः धर्म को विचारधारा के रूप में जब भी लागू किया जाएगा, वह सामाजिक विभाजन एवं विद्वेष को बढ़ाएगा।"[32]

इंदिरा गोस्वामी के उपन्यास 'दक्षिणी कामरूप की गाथा'(दांताल हाथीर उने खोवा हउदा) में दिखाया गया है कि किस प्रकार असम समाज के प्रतिष्ठा के पर्याय वैष्णव सत्रों में दामोदरिया गोसाइनों के घरों में स्त्रियों पर लगाए गए प्रतिबंध, धार्मिक कर्मकांड स्त्रियों को पितृसत्तात्मक ढाँचे में ढाल कर उन्हें उनकी अस्मिता से अनभिज्ञ रखता है। स्त्रीवादी सिमोन द बउवा की पंक्ति 'औरत पैदा नहीं होती वरन बनाई जाती है', इस उपन्यास के स्त्री पात्रों पर पूर्णतः चरित्रार्थ होती है। स्त्री की पराधीनता के लिए किसी समाज की संस्कृति, नियम-कानून तथा मान्यताएं भी जिम्मेदार होती हैं। वैष्णव सत्रों में स्त्रियों की स्थिति बंधुआ मजदूरों सी थी, जिनका पूरा जीवन घर की दहलीज के भीतर ही बीत जाता है परंतु अपनी अस्मिता से अनभिज्ञ यह महिलाएँ भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रतिबंधों में बंधे इस जीवन को भी भगवान के वरदान तुल्य समझती हैं। इंद्रनाथ की माँ बड़ी गोसाइन उस पर गुस्सा करते हुए कहती है, "चुप रहो। बंद करो यह बकवास। इस घर की औरतों ने जो इज्जत पाई है, वह देवताओं को ही मिलती है। "[33] दामोदरिया गोसाइनों का सारा जीवन घर की दहलीज के भीतर ही बीतता आया। इंद्रनाथ की दादी कभी बातघर (गोसाइयों की हवेली का सजावटी द्वार) के बाहर कदम नहीं निकाल पाईं तथा जगन्नाथपुरी के दर्शन और सत्र में होने वाले

नाट्य उत्सवों की एक झलक पाने के लिए जीवनपर्यंत तरसती रह गई। उपन्यास में सत्राधिकार की पत्नी बड़ी गोसाइन तथा सत्राधिकार की बहन दुर्गा ऐसे नारीपात्र हैं जो अपनी स्वतंत्र अस्मिता के आकांक्षी भी नहीं है। ससुराल से अपमानित लौटी विधवा दुर्गा प्रतिक्षण इसी प्रतीक्षा में रहती है कि एक दिन ससुराल वाले सम्मान सहित उसे वापस ले जाएंगे। दुर्गा की सास उसे अपशकुनी समझती है। बेटे की मृत्यु का आरोप वह दुर्गा के कुंडली-दोष पर लगाती है। धीरे-धीरे दुर्गा के मन में भी यह बात बैठ जाती है कि वह अपशकुनी है। इंद्रनाथ दुर्गा को समझाता है, "बुआ, तुमने चिकारहाटी में अपने पति का घर छोड़कर भारी भूल की। अब तुम्हें जायदाद में से फूटी कौड़ी भी न मिलेगी। देखती रहना, वे तुम्हें वापस लिवाने कतई नहीं आएंगे। "[34] इंद्रनाथ द्वारा अपने ससुराल वालों की सच्चाई से अवगत होने पर वह खुद को लाचार महसूस करती है। बड़ी गोसाइन अपनी विधवा पुत्री गिरिबाला से यही अपेक्षा रखती है कि वह परिवार के कठिन रूढ़िवादी नियम-कायदों को मानते हुए जीवन निर्वहन करे। बेहद कम उम्र में विधवा हुई गिरिबाला का ईसाई युवक मार्क से मेलजोल बड़ी गोसाइन को जरा भी नहीं भाता क्योंकि यह परिवार की मान-मर्यादा के विरुद्ध है।

3.3- अशिक्षा तथा स्त्री अस्मिता का संकट

गरीबी, निरक्षरता तथा अज्ञान भी स्त्री अस्मिता के संकट के मुख्य कारकों में गिने जाते हैं। लैंगिक विभेद से ऊपर उठकर 'शिक्षा प्राप्ति का अधिकार' भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त मौलिक नागरिक अधिकार है। एक शिक्षित स्त्री अपनी अस्मिता के प्रति सचेत तथा जीवन के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण रखती है। शिक्षित स्त्रियाँ स्वस्थ समाज के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं जबकि अशिक्षा स्त्री अस्मिता पर एक प्रश्न चिह्न खड़ा करती है। स्त्री शिक्षा की महत्ता को रेखांकित करते हुए जगदीश्वर चतुर्वेदी लिखते हैं, "लिंगभेदीय अवस्था से स्त्री की मुक्ति की पहली सीढ़ी है स्त्री शिक्षा। इस परिप्रेक्ष्य में देखें तो पाएंगे स्त्री शिक्षा का मसला सिर्फ साक्षरता या सुशिक्षित गृहिणी की इमेज तक जाकर नहीं ठहर जाता अपितु "वर्चस्व" की सत्ता को कमजोर करने की कोशिश का अंग है।"[35] आधुनिक शिक्षा के बीज नवजागरण काल में पड़े, जब समाज सुधारकों द्वारा स्त्रियों

को शिक्षित करने के विभिन्न प्रयास किए जा रहे थे। " 'स्त्री समानता' की धारणा 'स्त्री शिक्षा' के बगैर निर्मित नहीं हो सकती, उसी तरह 'स्त्री की पहचान' एवं 'आत्मनिर्भर छवि' भी स्त्री शिक्षा के बगैर संभव नहीं थी। 'स्त्री शिक्षा' वस्तुतः स्त्री के विकास की धुरी है, इसे समाज सुधारकों ने सही रेखांकित किया था।"[36] इसके साथ ही यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि नवजागरण काल में बालक और बालिकाओं के लिए दो भिन्न पाठ्यक्रमों का पक्ष लिया जा रहा था। जहाँ बालक की शिक्षा का उद्देश्य उन्हें ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न धाराओं में पारंगत करना था वहीं स्त्री शिक्षा का मुख्य उद्देश्य बालिकाओं को कुशल गृहिणी बनने के लिए प्रेरित करना था। वर्तमान समय में स्त्री और पुरुष की शिक्षा-पाठ्यक्रम में कोई विभेद नहीं रह गया है। इसके बावजूद 1975 में प्रकाशित 'समता की रिपोर्ट' में स्त्री शिक्षा के क्षेत्र के लैंगिक विभेद को रेखांकित किया गया था। निम्न आँकड़ों तथा तथ्यों के आधार पर शिक्षा के क्षेत्र के इस भेद को समझा जा सकता है-

पीपुल्स यूनियन फॉर डेमोक्रेटिक राइट्स जिसे 1980 तक पीपुल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टीज एण्ड डेमोक्रेटिक राइट्स कहा जाता था, द्वारा स्त्रियों के जनवादी अधिकारों पर एक रिपोर्ट प्रकाशित की गई थी जिसके अनुसार, "परिवार के सम्मान और प्रतिष्ठा की मान्यताएं लड़कियों को घर की चारदीवारी में कैद कर देती हैं। प्रारंभ से ही घर के कामों में लग जाना, आने-जाने पर प्रतिबंध तथा पुरुष सत्ता के आगे झुके रहना आदि लड़कियों की शिक्षा संभावनाओं को विपरीत ढंग से प्रभावित करते हैं। स्कूल छोड़ देने की दर हर स्तर पर लड़कों की तुलना में लड़कियों की बहुत अधिक है। ग्रामीण अंचलों में, शहरी निर्धन तबकों में समस्या काफी गंभीर है। लड़कियों की एक बहुत बड़ी संख्या स्कूल तक पँहुच ही नहीं पाती, जो पँहुचती भी हैं वे पढ़ाई जारी नहीं रख पातीं। प्रारम्भिक शिक्षा के स्तर पर ही 70 प्रतिशत लड़कियां स्कूल छोड़कर घर बैठ जाती हैं।। बहुत कम माध्यमिक शिक्षा तक पँहुचती हैं और उच्च शिक्षा तक पँहुचने वाली लड़कियों की संख्या तो बहुत ही कम है।"[37]

समाज विज्ञानी राम आहुजा अपनी पुस्तक 'सोशल प्राब्लमस इन इंडिया' में भारत में स्त्री शिक्षा के निम्न स्तर के संबंध में लिखते हैं-

"The problem of illiteracy among women in our country is worse. Of every 10 adult illiterate in India, 6 are females. In other words, the national average in female literacy is around 40 per cent. According to the 1991 census, it was estimated that there were 247.6 million illiterate women(out of total 406.52 million females in India). The illiteracy percentage among females today(1991) is 60.58 in comparison to 36.14 among males. In the urban areas, female illiteracy is 52 percent against 34 per cent against males. Rajasthan has the lowest female literacy rate in the country. According to the 1991 census, the female literacy figure in Rajasthan stood at 20.84 per cent, followed by Bihar with 23.10 per cent, Uttar Pradesh with 26.2 per cent, and Madhya Pradesh with 28.59 per cent. In comparison to this, the female literacy rate in other states was: Kerela: 86.93 per cent, Tamil Nadu: 52.29 per cent, Maharashtra: 50.51 per cent, Punjab: 49.72 per cent, Gujrat: 48.50 per cent, West Bengal: 47.15 per cent, and Assam: 43.7 per cent."[38] (आँकड़ों से स्पष्ट है कि 1991 की जनगणना के अनुसार उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश तथा बिहार में स्त्री साक्षरता का प्रतिशत केरला, तमिलनाडु तथा पंजाब प्रांत से काम है।)

कृष्णा सोबती तथा इंदिरा गोस्वामी ने अपने उपन्यासों द्वारा अशिक्षा से उत्पन्न स्त्री अस्मिता के संकट पर प्रकाश डाला है। कृष्णा सोबती के उपन्यास 'डार से बिछुड़ी' में पाशो का चरित्र अपने नाम के अनुसार पाश और बंधनों में बंधा प्रतीत होता है। कृष्णा सोबती के अनुसार पाशो के पास "न शिक्षा थी, न विद्या थी, न पिता की छाँह। न विधवा माँ की मान-मर्यादा और न परिवार की

सुरक्षा। "[39] विधवा माँ द्वारा परित्यक्त पाशो, मामा-मामी के घर पली-बढ़ी है। बड़े मामा, छोटे मामा के साथ ही घर की अन्य स्त्रियाँ नानी, बड़ी मामी और छोटी मामी की मानसिकता भी सामंतवादी है। मामा, मामी और नानी के ताने-उलाहने रात-दिन सुनने वाली पाशो अपनी असहायता और निर्बलता को पहचानती तो है पर इन जड़ताओं से निकलने में वह असमर्थ है। पाशो अशिक्षित है। उसके लिए जीवन की तमाम यंत्रणाओं से मुक्ति का माध्यम बस किसी बड़े घर में ब्याह दिए जाना है। "पहली बार स्यालकोटिए शाहों की बहू का जड़ाऊ टीका आँखों में घूम गया। नाक की लौंग हाथ से छू-छूकर कई बार मन-ही-मन दुहराया- इस माथे ऐसा ही टीका सजेगा..!"[40] शिक्षा के अभाव में वह अपने पैरों पर खड़े होकर आत्मनिर्भर बनने में सक्षम नहीं है।

कृष्णा सोबती के उपन्यास 'चन्ना' में कम पढ़े-लिखे होने के कारण चन्ना की माँ शीला को पति धर्मपाल की उपेक्षा का शिकार होना पड़ता है। विवाह के मात्र एक वर्ष के भीतर ही धर्मपाल गाँव में पली-बढ़ी शीला को छोड़ कर बंबई की आधुनिका श्यामा को अपना लेते हैं।

इंदिरा गोस्वामी के उपन्यासों में अशिक्षा के करण स्त्री अस्मिता के संकट की स्थितियाँ प्रायः उत्पन्न होती हैं। उपन्यास 'दक्षिणी कामरूप की गाथा'(दांताल हाथीर उने खोवा हौदा) में वैष्णव सत्र की महिलाएं अशिक्षा के कारण अपने अधिकारों के प्रति सचेत नहीं हैं। विवाह से पूर्व मासिक धर्म को दुर्भाग्य का लक्षण समझने वाली ये स्त्रियाँ, स्त्री अस्मिता के संकट से जीवन के हर मोड़ पर रूबरू होती रहती हैं। सत्राधिकार की विधवा बहन दुर्गा का यह कहना, "क्या तुमने कभी यह सुना है कि किसी दामोदरिया गोसाइनों की बेटी माहवारी शुरू होने के बाद ब्याही जाए। हमारे खानदान में ऐसा कभी नहीं हुआ और न ही होगा। "[41] दुर्गा के अशिक्षा और अंधविश्वास में जकड़े व्यक्तित्व का चित्रण करता है। अपने नागरिक अधिकारों के प्रति अनभिज्ञ ये महिलाएं कचहरी में औरतों का जाना शर्म की बात समझती हैं। अदालत में जाने की बात पर एक दामोदरिया गोसाइन कहती है, "अदालत! कचहरी! जहां चोर और उच्चके जाते हैं। क्या हम गोसाइनें सबके सामने उनके

बीच खड़ी होंगी? छिः, छिः शर्म की बात है। .. दामोदरिया गोसाइनें तो ऊपर आकाश में सूरज की ओर भी नहीं देखतीं। "[42]

उपन्यास 'दक्षिणी कामरूप की गाथा' में बहुत कम उम्र में विधवा हुई गिरिबाला शेष अन्य विधवाओं की भाँति अपना जीवन मृत पति की खड़ाऊँ को पूजते हुए नहीं बिताना चाहती है, गिरिबाला को बचपन से ही पढ़ने लिखने का शौक था परंतु वैष्णव सत्र में प्रचलित अंधविश्वासों के कारण बहुत छोटी उम्र में उसका विवाह, हमेशा नशे में धुत रहने वाले लाटू गोसाईं से करा दिया जाता है। परिवार की झूठी प्रतिष्ठा के कारण उसकी पढ़ाई बचपन में ही छुड़ा दी जाती है। "जब गिरिबाला बच्ची थी तो झलियाबारी के हँसदेव पंडित ने उसे पढ़ाया था। उसे विष्णु भारतीय का 'ध्रुव चरित' जबानी याद था। लेकिन किसी लड़की में इतनी बुद्धि का होना किस काम का? इससे तो परिवार के नाम पर बट्टा ही लगेगा। औरतों को शिक्षा देना बेकार है।"[43]

इंदिरा गोस्वामी के उपन्यास 'छिन्नमस्ता' द्वारा असम में अवस्थित कामाख्या शक्तिपीठ में सदियों से चली आ रही बलिप्रथा का विरोध किया गया है। उपन्यास का कालखंड 1921 से 1932 के बीच का है जब असम अंचल का यह क्षेत्र निर्धनता, अशिक्षा और अंधविश्वास से घिरा हुआ था। शक्तिपीठ के पंडों के घरों की स्त्रियों का पूरा जीवन अशिक्षा और अंधविश्वास के कारण मंदिर के यजमानों के लिए खाना बनाने में ही बीत जाता है। चूल्हे की आग के पास लगातार बैठने से उनके हाथों की चमड़ी काली हो गई है। डोरोथी जब उनके हाथों के विषय में प्रश्न करती है तब वे कहती हैं, "हम लोग रसोई में चूल्हे के पास लगातार रहते हैं, उसी से ऐसा हुआ। "[44] डोरोथी शिक्षित है वह मरहम पट्टी से उन महिलाओं की सहायता करना चाहती है। परंतु वहाँ के बुजुर्ग पंडों ने अपने घरों की स्त्रियों को विदेशी महिला के आसपास जाने से भी मना किया है। अशिक्षा और अंधविश्वास के कारण वे विदेशियों को म्लेच्छ समझते हैं। बूढ़ा पंडा पंचानन शर्मा डोरोथी के पास सहायता के लिए आगे बढ़ती स्त्रियों को कहता है, "छिः, छिः क्या करती हो, फिर से नहाना पड़ेगा तुम लोगों को। सुबह-सुबह ये लड़कियां क्या कांड कर रही हैं, जरा देखो!"[45]

3.4- वैधव्य और स्त्री अस्मिता का संकट

भारतीय समाज में वैधव्य का प्रश्न स्त्री अस्मिता के संकट से बहुत गहराई से जुड़ा हुआ है। भारतीय समाज में विधवाओं की स्थिति दयनीय तथा त्रासपूर्ण रही है। बालविवाह की स्थिति में वैधव्य जीवन के कष्ट और भी भयावह तथा विकराल हो उठते हैं। औपनिवेशिक शासन के दौरान विधवाओं को पारिवारिक और सामाजिक प्रतिष्ठा दिलाने के लिए बहुत प्रयास किए गए। बंगाल में ईश्वरचंद विद्यासागर के अथक प्रयासों के फलस्वरूप 1856 में विधवा पुनर्विवाह ऐक्ट पारित हो सका। परंतु यह ऐक्ट शुरुआती वर्षों में मात्र कागजी साबित हुआ। प्रतिष्ठित परिवारों के योग्य पुरुष सामाजिक और पारिवारिक दबाव के चलते विधवाओं से विवाह करने में कतराते थे। पंडिता रमाबाई ने अपनी पुस्तक 'हाईकास्ट हिंदू वुमेन' में इस तथ्य का जिक्र किया है कि विधवाओं की दयनीय स्थिति का कारण, पुरोहितों द्वारा मूल वैदिक पाठ की मनमानी व्याख्या है। रमाबाई लिखती हैं, "प्राचीन समय में जब मनु की संहिता नहीं थी तथा पुरोहितों ने विधवाओं से संबंधित मूल वैदिक पाठ को विकृत नहीं कर दिया था, तब पुनर्विवाह का रिवाज अस्तित्व में था। "[46]

पीपुल्स यूनियन फॉर डेमोक्रेटिक राइट्स की रिपोर्ट के अनुसार, "अगर विवाहित जीवन में महिलाओं की स्थिति खराब है, तो विधवाओं की विशेष रूप से पुत्ररहित विधवाओं की स्थिति और भी खराब है। वह आर्थिक रूप से दूसरों पर निर्भर तो रहती ही है, उसे सामाजिक जीवन में भी अशुभ समझा जाता है। बनारस की गलियों में भिखारी का जीवन जीने के लिए आती सैकड़ों की संख्या में विधवाएं, सती प्रथा का पुनर्प्रचलन इस बात के छोटे से प्रमाण हैं कि हमारे देश में विधवाओं का जीवन किस कदर सामाजिक कठिनाइयों और दबावों से भरा है।"[47]

रेखा कस्तवार 'स्त्री चिंतन की चुनौतियाँ' में विधवाओं की स्थिति पर लिखती हैं "मनुस्मृति तक आते-आते विधवा स्त्री के लिए की गई कठोर व्यवस्था ने चिता पर लेटने की प्रतीकात्मक परंपरा को सहमरण में परिवर्तित कर दिया। विधवा के जीवन की अपेक्षा सती होना अधिक श्रेयस्कर

लगने लगा। [48] "जहाँ सती होने का विकल्प नहीं स्वीकारा गया वहां वैधव्य पराश्रित जीवन की नारकीय स्थितियों में परिवार के ही सदस्यों द्वारा यौन शोषण और गर्भवती होने की स्थिति में अपमान, लांक्षन, गर्भपात, वेश्यावृत्ति और आत्महत्या तक स्त्री जीवन को सीमित करता था। बालविवाह और बहुविवाह के परिणाम स्वरूप विधवा की समस्या विकराल रूप ले चुकी थी और विधवाओं की पराश्रितता का प्रश्न स्त्री प्रश्नों में प्रमुखता से उठ खड़ा हुआ। "[49]

कृष्णा सोबती तथा इंदिरा गोस्वामी दोनों साहित्यकारों द्वारा अपने उपन्यासों में वैधव्य जीवन से जुड़ी समस्याओं का वर्णन किया गया है। सामाजिक बहिष्कार, साज-श्रंगार तथा अच्छे भोजन से परहेज और अपशकुनी समझा जाना इत्यादि कुछ ऐसे तथ्य हैं जिन्हें दोनों ही साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं में चित्रित किया है।

कृष्णा सोबती ने 'डार से बिछुड़ी', 'दिलोदानिश' तथा 'चन्ना' इत्यादि उपन्यासों में वैधव्य से जुड़े अस्मिता संकट के प्रश्नों को उठाया है, तो इंदिरा गोस्वामी ने 'नीलकंठी ब्रज', 'दक्षिणी कामरूप की गाथा' उपन्यासों में वैधव्य की त्रासदी को चित्रित किया है।

उपन्यास 'डार से बिछुड़ी' में विधवा होने के पश्चात पाशो की दुर्दशा का एक नया अध्याय शुरू होता है। " रह-रह लाहणियाँ पड़ती थीं, कड़े सयापे की आवाजें तीर-सी कलेजे लगती थीं और छाती पीट-पीट बेहोश हो-हो जाती थीं।... छाती पीट-पीट नीली हो जाती। कोई पास से मुहँ में पानी डाल देती। फिर उठ खड़ी होती, फिर लाहणियाँ पड़तीं, फिर स्यापा होता।"[50] असहाय विधवाओं को देह व्यापार के लिए बेचना, वेश्यावृत्ति के लिए मजबूर करना उस युग में आम बात थी। मृत पति के भाई बरकत दीवान के हाथों दैहिक शोषण का शिकार विधवा पाशो बूढ़े पिता और तीन भाइयों के परिवार में बेच दी जाती है।

उपन्यास 'दिलोदानिश' में वकील कृपानारायण की बहन छुन्ना बीबी विधवा हैं इसलिए तीज-त्योहार, विवाह आदि शुभ अवसरों पर उनसे अछूत के समान व्यवहार किया जाता है। भाभी

कुटुंबप्यारी को लगता है विधवा होने के नाते छुन्ना बीबी को आश्रम में भिजवा देना चाहिए। छुन्ना बीबी अपनी अस्मिता के प्रति सचेत हैं पर वह जानती हैं कि विधवा होने के नाते परिवार के लिए उनको अपशकुनी समझा जाने लगा है। अपनी नियति के प्रति छुन्ना बीबी के मन में आक्रोश है, "उनकी नहीं छुन्ना बीबी अपनी बात करो। गफलत और काहिली में या तो पत्ते खेलती रहो, सिलाई-बुनाई करती रहो। दिल लगाने को गजल गुनगुनाती रहो, सुबह-शाम पूजा आरती करती रहो। नहीं तो मरो विधवा की मौत। "[51] छुन्ना बीबी के समक्ष अस्मिता संकट के रूप में वैधव्य है जिसके कारण घर में छोटे से लेकर बड़े तक उन पर फब्तियाँ कसने से नहीं चूकते। बुआ को गुलचेहर बताते हुए घर के बच्चे उनके पीछे से गाते हैं,

"करती धरती कुछ नहीं,

बस वाहवाही है।

होंगे झगड़े और लड़ाई'

बुआ लौट आई हैं। "[52]

छुन्ना घर के ताने उलाहने और छींटाकशी से भीतर तक त्रस्त और असुरक्षित महसूस करती है, "कमबख्त हमारे यहाँ सारा धौंस-धमाका सुहाग-बिंदी का ही है। बिना इसके तो हम जैसे या तो घर-भर का तमाशा या बदशगुनी की पुड़िया। अच्छे मौकों पर हमें नजर न आना चाहिए। "[53] छुन्ना ने ऐंटरेंस पास किया है और वह अपनी पढ़ाई-लिखाई को व्यर्थ नहीं जाने देना चाहती। उसके मन में सदैव यह दुविधा चलती रहती है कि माएके और ससुराल के तानों को सुनने से अच्छा है कि किसी स्कूल में पढ़ा लो या बच्चों की एक पाठशाला खोल लो। छुन्ना बीबी इस तथ्य से भी अनजान नहीं कि जिस समाज में विधवा से यह अपेक्षा रखी जाती है कि वह अपना सारा जीवन सफेद धोती पहनकर भगवान के भजन-कीर्तन में लगाए, उस समाज में विधवा होते हुए अपने पैरों पर खड़े होने के लिए कठिन संघर्ष करने होंगे।

उपन्यास 'चन्ना' में धर्मपाल की मृत्यु के बाद पत्नी श्यामा की दुर्दशा को निम्न पंक्तियों द्वारा अभिव्यक्त किया गया है- "अभागी आज न रोए, जिसके सिर की सरदारी चली गई हो, जिसका सुख-चैन चला गया हो, जिसके माथे का सिंदूर पुँछ गया हो, वह नहीं रोएगी? फिर कौन लड़का-बाला बैठा है जो रो-धोकर फिर कल रानी बन बैठेगी। रब्ब किसी दुश्मन को यह दिन न दिखाए।" वैधव्य की परिणिति श्यामा के अस्तित्व पर प्रश्न चिह्न लगा कर होती है, "धर्मपाल के न रहने पर भी धर्मपाल का घर नहीं बदला। लेकिन जो बदल गई थी वह थी श्यामा। श्यामा का अस्तित्व और उस अस्तित्व में उसका विधवा जीवन।"[54]

इंदिरा गोस्वामी का उपन्यास 'दाँताल हाथीर उने खोवा हौदा" वैष्णव सत्रों में दामोदरिया गोसाइयों के घरों की विधवाओं के त्रासदपूर्ण जीवन का मार्मिक चित्रण करता है। उपन्यास के मुख्य विधवा पात्र सारू गोसाइन, दुर्गा तथा गिरिबाला द्वारा वैष्णव सत्र की विधवाओं के अस्मिता संकट का वर्णन यथार्थ के धरातल पर किया गया है। उपन्यास के अनुसार सत्र की अन्य महिलाओं की तुलना में विधवाओं का जीवन बहुत नारकीय अवस्था में था। पति की मृत्यु के बाद प्रायः ससुराल द्वारा उन्हें पिता के घर वापस भेज दिया जाता था तथा उनकी संपत्ति हड़प ली जाती थी जिससे वह मानसिक रूप से टूटने के साथ ही आर्थिक रूप से भी टूट जाती थीं। असम में विधवाओं की स्थिति वहाँ के रीति-रिवाजों और धार्मिक मान्यताओं की वजह से और भी दुष्कर थी। असम में आषाढ़ के चार दिनों में पृथ्वी को रजस्वला माना जाता है। इन दिनों पृथ्वी की खुदाई भी रोक दी जाती है। विधवाओं के लिए यह दिन और भी कष्टप्रद होते हैं। बड़े सत्राधिकार की विधवा पुत्री दुर्गा ने वैधव्य जीवन की शुरुआत में इससे जुड़े कर्मकांडों को बहुत सहजता से स्वीकार कर लिया था पर धीरे-धीरे यही कर्मकांड उसके लिए भय का कारण बनते जा रहे थे। दुर्गा मन ही मन सोचती है, "शीघ्र ही अमोटी शुरू हो जाएगी, धरती रजस्वला हो जाएगी। तब उसके लिए धरती पर पाँव रखना भी वर्जित हो जाएगा। तीन दिन तक उसे बाँसों की शैया पर पड़े रहना होगा। "[55] ब्राह्मण विधवाओं के पहनने-ओढ़ने के तरीकों पर प्रतिबंध के साथ-साथ ही एक विधवा का पकवानों की

सुगंध लेना भी महापाप के समतुल्य था। "कहते हैं किसी पकवान की सुगंध लेना वैसा ही है जैसे उसे खाना और शास्त्रों ने तो यह भी लिखा है कि एक गोसाई विधवा के लिए किसी वर्जित खाद्य पदार्थ की सुगंध लेना भी महापाप है। "[56] उपन्यास के संदर्भ में प्रसेनजित दास अपने आलेख "विमेन एण्ड फिल्म" में लिखते हैं कि इंदिरा गोस्वामी ने गहन शोध के उपरांत असम के सामाजिक और धार्मिक सेटअप में गोसाईं विधवाओं का विडंबनापूर्ण जीवन को चित्रित किया है। "The author of the novel had done extensive research on the agonies and anxieties in the everyday lives of the Brahmin widows in the traditional Assamese social and religious set-up."[57]

इंदिरा गोस्वामी का उपन्यास 'नीलकंठी ब्रज' मुक्तिप्राप्ति की लालसा में ब्रजधाम आई विधवाओं के दारुण जीवन को वृहद स्तर पर चित्रित करता है। विधवा राधेश्यामियों को केंद्र में रखकर लिखा गया उपन्यास 'नीलकंठी ब्रज' समाज की खोखली मान्यताओं और धार्मिक कुरीतियों पर एक प्रश्नचिह्न खड़ा करता है। उपन्यास के अनुसार पूर्वी बंगाल से आई कम उम्र की विधवाओं का यौन शोषण इस धार्मिक स्थल पर आम बात थी। अपने घरों से परित्यक्त निर्धन वृद्धा विधवाएं इस आस में आखिरी दिनों में ब्रजवास करती थीं जिससे उनका अंतिम संस्कार भगवान की इस पवित्र भूमि पर हो। इसके लिए वे स्वयं भूखी रहकर, भगवान के भजन-कीर्तन गाकर श्राद्ध कर्म के लिए पैसे जुटाती रहती थीं। पर लोभी पंडे पूरा पैसा न मिलने पर सम्मान के साथ अंतिम कर्म करना तो दूर, इन मृत शरीरों को निर्दयतापूर्वक यमुना में बहा देते थे। भजन आश्रम की ऐसी ही एक निर्धन विधवा के मृत शरीर को ठोकर मारता दलाल कहता है, "मैं मुर्दा ढोने वाले चार आदमियों को बुलाता हूँ। वे इसे घसीट कर यमुना में फेंक देंगे। "[58] ब्रजधाम की निर्धन विधवा राधेश्यामियों की स्थिति इतनी दयनीय थी कि भूख से व्याकुल ये विधवाएं सीलन भरी, टूटी-फूटी कोठरियों में रहने को विवश थीं। सौदामिनी जब ब्रजवास के लिए आती है तो वह हतप्रभ हो जाती है, "टूटी-फूटी कोठरियाँ दिखलाई पड़ीं। कई राधेश्यामी विधवाएं इन कोठरियों में रहती थीं। उनकी कंकाल

जैसी देहों पर मैली-कुचैली धोतियाँ लिपटी हुई थीं। इसके बाद भी उनके माथे पर गोपी चंदन और भस्म की रेखाएं दमक रही थीं। "[59] मंदिर के प्रसाद पर जीवित विधवाओं के लिए दुकानदार बची-खुची खराब सब्जियों को छाँट कर अलग कर देते थे। सौदामिनी ने देखा ये विधवाएं ललचाई नजरों से साग-सब्जी की दुकानों की ओर देखती थीं। "दुकानदार सड़ी-कुम्हलाई सब्जियां छाँटकर एक तरफ रख देते हैं। इनकी एकमात्र खरीददार ये राधेश्यामी औरतें ही तो हैं। "[60] उपन्यास में इंदिरा गोस्वामी ने इस तथ्य को भी रेखांकित किया है कि वृंदावन में कुछ ही विधवाएं ऐसी हैं जो मुक्ति की कामना में ईश धाम आती हैं जबकि ज्यादातर विधवाएं पारिवारिक दबाव और अशांति के कारण वृंदावन आती हैं। उपन्यास की पात्र सौदामिनी और मृणालिनी ऐसे ही नारी पात्र हैं जो पारिवारिक दबाव के चलते वृंदावन में रहने को विवश होते हैं। उपन्यास की अन्य पात्र शशिप्रभा कम उम्र की विधवा है जो कुंजबिहारी मंदिर के पुजारी आलमगढ़ी की मंदिर के कामकाज में सहायता करती है। कुंजबिहारी मंदिर के बिकने पर शशिप्रभा अपने भविष्य के प्रति अनिश्चित हो जाती है। शशिप्रभा जानती है कि किसी अन्य मंदिर में सेविका के रूप में उसको रखने के बहाने लोभी और धूर्त पंडे उसको अपनी रखैल बनाना चाहते हैं।

उपरोक्त संदर्भ में यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि वृंदावन में विधवाओं की स्थिति का चित्रण उन्होंने सत्तर से अस्सी के दशक के बीच का किया है। तब वहाँ पर कोई उल्लेखनीय सरकारी या निजी ऐसी संस्थाएं नहीं थीं जो विधवाओं के हित में काम करती हों। 1996 में भारतीय महिला आयोग द्वारा वृंदावन में विधवाओं की स्थिति पर शोध प्रस्तावित हुआ था और इस अध्ययन में वृंदावन में विधवाओं की स्थिति का जो विवरण मिलता है यथा वृंदावन में भजनाश्रमों की स्थिति, भजन गाने के स्वरूप मिलने वाली राशि इत्यादि के आँकड़े इंदिरा गोस्वामी द्वारा प्रस्तुत किए गए विवरणों से पूरी तरह मिलते हैं। इसके बाद 2007 तथा 2012 में सुप्रीम कोर्ट द्वारा इस स्थिति का संज्ञान लिया गया था और वर्तमान में इस स्थिति में थोड़ा बदलाव आया है। राष्ट्रीय महिला आयोग की तत्कालीन अध्यक्ष गिरिजा व्यास ने 'स्टडी ऑन विडोज ऑफ वृंदावन' रिपोर्ट के प्राक्कथन में

लिखा "In a study sponsored by National Commision for Women in 1996 titled 'The Widows of Vrindavan' it was estimated that at the time there were more than 5000 widows and destitute women in the city of Vrindavan, living in pitiable and pathetic conditions and having been abandoned by their families had no financial, social or emotional support."[61]

3.5- विवाहेतर संबंध और स्त्री अस्मिता का संकट

स्त्री अस्मिता के संकट के मुख्य कारकों में से एक विवाहेतर संबंधों को भी लिया जाता है। कृष्णा सोबती तथा इंदिरा गोस्वामी दोनों ने ही विवाहेतर संबंधों से उत्पन्न अस्मिता संकट को अपने उपन्यासों में चित्रित किया है।

कृष्णा सोबती ने 'दिलोंदानिश' की कुटुंबप्यारी तथा 'चन्ना' की शीला के माध्यम से पति के विवाहेतर संबंध से त्रस्त दो सर्वथा भिन्न पात्रों का सृजन किया है। कुटुंबप्यारी पति कृपानारायण के महकबानो से संबंध को लेकर पीड़ित है वह इसका मुखर प्रतिरोध तरह-तरह के तानों-उलाहनों से करती है। पति के विवाहेतर संबंध ने उसे ईर्ष्यालु और विवेकहीन बना दिया है। कुटुंब का इस अन्याय के प्रति विरोध बहुत छिछला है। इस संबंध के ऐवज में पति से तरह-तरह के आभूषणों की मांग कुटुंब के व्यक्तित्व को और खोखला बनाती प्रतीत होती है। पति को कुटुंब तंत्र-मंत्र, जादू-टोनों की सहायता से वापस पाना चाहती है और उसकी यह चाह उसे चारित्रिक पतन के पथ पर अग्रसर कर देती है। आत्ममंथन की स्थिति में पति कृपानारायण की ओर देखते हुए सोचती है "एक ही आदमी जाने शतरंज की कितनी चालें चला करता है। पूरी गृहस्थी को अलग-अलग गोटों से खेलता है। किसी को रिझाता है। पटाता है। सताता है। जेर-साया में तो हम पड़े हैं। इनके लिए कसोरा हैं। पिया, जी भर गया तो दूसरा उठा लिया। "[62] ननद छुन्ना बीबी को कुटुंब के आँसू घड़ियाली दिखते हैं। "पूछिए भला, लोमड़ी अपने कोटर में क्या से क्या मिलाएगी। शिकायत

सच्ची है तो मियां से ढंग से बात कीजिए। हर बार एक-न-एक गहने पर न अपना ईमान तोड़िए, नहीं कोई सूरत निकलती तो किनाराकशी कीजिए। दद्दा भी कुछ समझेंगे कि आप सिर्फ गुस्साई नहीं रहतीं, कुछ महसूस भी करती हैं। "[63]

कृष्णा सोबती के उपन्यास 'चन्ना' में शीला पति धर्मपाल के स्त्रियों के प्रति चंचल मन को पहचान जाती है। धर्मपाल और श्यामा को साथ देख वह सोचती है, "पति के निकट आजतक पत्नी की नहीं, नारी की उपयोगिता रही होगी। नारी से ऊपर वह और कुछ भी नहीं!"[64]

इंदिरा गोस्वामी के उपन्यास 'छिन्नमस्ता' में डोरोथी ब्राउन पति हेनरी ब्राउन के खासी महिला से संबंध को लेकर पीड़ित और आहत है। डोरोथी द्वारा इंदिरा गोस्वामी ने ऐसे पात्र का सृजन किया है जो स्वयं के अस्मिता संकट से जूझ रही है। उपन्यास का कालखंड 1921 से 1932 की घटनाओं से संबद्ध है। उस दौरान अंधविश्वास से जकड़े असम में विदेशी महिला होने के नाते उसे म्लेच्छ समझा जाता है ऊपर से जब वह मानसिक अशान्ति से त्रस्त होकर पति का घर छोड़ देती है तो स्थानीय बदमाशों द्वारा उसके बलात्कार की भी कोशिश की जाती है।

इंदिरा गोस्वामी के उपन्यास 'नीलकंठी ब्रज' में मृणालिनी के पिता ठाकुर साहब समस्त धन-संपदा मदिरा और विवाहेतर संबंधों पर लुटा देते हैं। ठाकुर परिवार की जीविका चलाने का एकमात्र आसरा वृंदावन के बिहारी मोहन कुंज मंदिर बिकने पर उनकी पत्नी, ठाकुर साहब को धिक्कारते हुए कहती है, "तुम्हारे कारण हमारी यह दुर्दशा हुई है। मुझे सब मालूम है तुम किस समय किस महिला के पास गए थे। "[65]

'दक्षिणी कामरूप की गाथा' में गिरिबाला का पति लाटू गोसाईं के एक अफीम बेचने वाली महिला के साथ संबंध थे| लाटू गोसाई का गिरिबाला के प्रति बेहद रुखा व्यवहार था| वह गिरिबाला से कहता है, "तुम्हें एक बात समझ लेनी चाहिए| तुम्हें मेरी कुछ आदतें बर्दाश्त करनी पड़ेंगी| लोग कहते हैं कि वे खराब आदतें हैं, लेकिन तुम्हें उन्हें स्वीकार करना होगा|"[66]

दोनों उपन्यासकारों ने दिखाया है कि भारतीय समाज में स्त्रियाँ अपने पति के विवाहेतर संबंधों को चुपचाप मान लेने के लिए विवश हैं। इसका मुख्य कारण उनकी परनिर्भरता है।

3.6- कार्यस्थल पर स्त्री अस्मिता का संकट

पुरुष प्रधान समाज में प्रायः स्त्री को मात्र देह रूप में ही देखा जाता है। स्त्रियों ने जब से घर की दहलीज लांघ कर अपने पैरों पर खड़े होने का प्रयास शुरू किया है तब से कार्यस्थलों पर महिला कर्मियों को हीन समझना तथा उनका दैहिक, मानसिक और आर्थिक शोषण भी शुरू हुआ है। 1997 में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा कार्यस्थल पर लैंगिक तथा यौन उत्पीड़न रोकने के लिए 'विशाखा दिशानिर्देश' पारित किए गए थे। परंतु यह कई मामलों में कागजी खानापूर्ति थी। कार्यस्थलों पर स्त्रियों के शोषण के बढ़ते मामलों के कारण 2013 में सरकार द्वारा सभी सरकारी तथा गैर सरकारी संस्थानों में अंतरिम शिकायत कमेटी खोलने के निर्देश दिए गए थे। परंतु 2013 के इस कानून की भी अपनी सीमाएं हैं यह कानून कार्यस्थलों पर होने वाले महिला यौन उत्पीड़न को अपराध के रूप में नहीं देखता है। कृष्णा सोबती तथा इंदिरा गोस्वामी ने इन कानूनों के पारित होने के बहुत पहले ही अपनी रचनाओं द्वारा कार्यस्थलों पर होने वाले स्त्री के दैहिक, मानसिक और आर्थिक शोषण को अपने उपन्यासों में लिपिबद्ध किया है।

कृष्णा सोबती के उपन्यास 'यारों के यार' के प्रमुख नारी पात्र 'मिस तमाशा' और मिस तमन्ना ऑफिस में काम करने वाली आधुनिक महिलाएं तो हैं परंतु वह जिसे स्वतंत्र और उन्मुक्त जीवन समझ रही हैं दरअसल वह भ्रष्ट सामाजिक व्यवस्था का अंश है, जहां नारी मात्र भोगने योग्य देह है और उसके माध्यम से सरकारी दफ्तरों में बड़े-बड़े कान्ट्रैक्ट हासिल किए जाते हैं। सरदार हजारा सिंह प्यारा सिंह के दफ्तर में स्टेनो का काम करने वाली मिस तमाशा का उद्देश्य पारदर्शी कपड़ों में देह प्रदर्शन करते हुए ऑफिस में टिके रहना है। "बड़े दार जी का हुक्म हो तो तमाशा इम्पोरियम की टाट-पट्टी पहना करे। "[67] काल गर्ल का काम करने वाली तमन्ना अपनी देह को ऊंची कीमत

पर बेचकर जीवन से संतुष्ट है। वह भाटिया से कहती है, "तमन्ना के पास कोई वक्त नहीं हजरत, तुम रिश्वतपूरी की कोई सस्ती लड़की तलाश करो। "[68] शिक्षित वर्ग की ऐसी किशोरियाँ अपने दैहिक शोषण को सफलता की सीढ़ियाँ चढ़ने का माध्यम मानती हैं। रोहिणी अग्रवाल के शब्दों में, "निस्संदेह मिस तमाशा और मिस तमन्ना ऐसी कामकाजी महिलाओं के रूप में चित्रित की गई हैं जिन्होंने अल्पजीवी भौतिक समृद्धि के लिए अपना भविष्य, अपना मान, अपना सर्वस्व दांव पर लगा दिया है। उनके इस व्यवहार में स्वतंत्र व्यक्ति की विवेकशीलता नहीं, स्वच्छंद प्राणी की उच्छृंखलता लक्षित की जा सकती है जो मनमाना करने के मोह में दिकज्ञान से शून्य होकर निरंतर गलत मार्ग की ओर बढ़ा जा रहा है। ऐसी नारी किसी भी कीमत पर आज की 'मॉडल' नहीं कही जा सकती। यह नारी वास्तव में उन्हीं मूल्यों और व्यवस्था की उपज है जो व्यक्ति को स्वार्थन्ध कर पतन के गर्त में धकेल देती है। [69]

इंदिरा गोस्वामी के उपन्यासों में वर्क साइट्स पर कार्यरत श्रमिक महिलाओं के मानसिक, दैहिक और आर्थिक शोषण का चित्रण किया गया है। 'चेनाबेर स्रोत', 'अहिरण' तथा 'मामरे धरा तारोवाल' उपन्यासों के माध्यम से कार्य स्थल पर श्रमिक स्त्रियों के अस्मिता संकट का बहुत ही मार्मिक वर्णन किया गया है। श्रमिक स्त्रियों के जीवन की कठिनाइयों के संदर्भ में महादेवी वर्मा लिखती हैं, "श्रमजीवी श्रेणी की स्त्रियों के विषय में तो कुछ विचार करना भी मन को खिन्नता से भर देता है। उन्हें गृह का कार्य और संतान का पालन करके भी बाहर के कामों में पति का हाथ बँटाना पड़ता है। सबेरे 6 बजे, गोद में छोटे बालक को तथा भोजन के लिए एक मोटी काली रोटी लेकर मजदूरी के लिए निकली हुई स्त्री जब 7 बजे संध्या के समय घर लौटती है तो संसार भर का आहत मातृत्व मानो उसके शुष्क ओठों में कराह उठता है। उसे श्रांत, शिथिल शरीर से फिर घर का आवश्यक कार्य करते और उस पर कभी-कभी मद्यप पति के निष्ठुर प्रहारों को सहते देखकर करुणा को भी करुणा आए बिना नहीं रहती। मिलों, कारखानों आदी में काम करने वाली स्त्रियों की दुर्दशा तो प्रकट ही है। परंतु हमारे वृहत महिला-सम्मेलन तथा बड़े-बड़े सुधार के आयोजन उन्हें भूल जाते

हैं जिनकी कार्य-पटुता के साथ अज्ञान का विचित्र संगम हो रहा है। कृषक तथा अन्य श्रमजीवी स्त्रियों की इतनी अधिक संख्या है कि बिना उनकी जागृति के हमारी जागृति अपूर्ण रहेगी और हमारे स्वत्व अर्थहीन समझे जाएंगे। उत्तराधिकार मिल जाने पर भी हमारी मजदूर स्त्रियाँ निर्धन पिता तथा दरिद्र पति से दरिद्रता के अतिरिक्त और क्या पा सकेंगी!"[70]

'चेनाबेर स्रोत' की सोनी श्रमिक वर्ग की स्त्री है। सोनी का गाँव के ही युवक शिवन्ना के साथ बालविवाह होता है। परंतु गाँव में पड़े भीषण अकाल के कारण शिवन्ना, सोनी को छोड़ कर शहर चला जाता है। युवा होने पर सोनी श्रमिक गौरीशंकर से विवाह कर लेती है। गौरीशंकर की असमय मृत्यु के बाद गर्भवती सोनी चेनाब पर हो रहे ऐक्वेडक्ट निर्माण कार्य में लगे श्रमिकों के दल में शामिल हो जाती है। गर्भावस्था में कठिन श्रमिक जीवन व्यतीत करती सोनी के माध्यम से ईंट-गारा धोने वाली महिलाओं के कष्टों को महसूस किया जा सकता है। श्रमिक स्त्री पार्वती द्वारा पैसों के लिए देह व्यापार करना ऐसी वर्कसाइट्स की विद्रूपताओं को उजागर करता है। कश्मीर में चंद्रभागा नदी पर पुल निर्माण कार्य की वर्कसाइट्स से प्राप्त प्राथमिक तथ्यों के आधार पर इंदिरा गोस्वामी ने 'चेनाबेर स्रोत' की रचना की थी। महिला श्रमिक की असमय आत्महत्या के विषय में इंदिरा गोस्वामी लिखती हैं, "I saw some more terrible accidents in 1966 at this camp of Chenab in Kashmir. A woman labourer known to us, who came from Orissa along with a contractor, in broad daylight and before everyone's eyes commited suicide by jumping from the piers into the razor-edged strong current of water below…"[71]

'मामरे धरा तारोवाल' में नारायणी को बीमार पति के ईलाज के लिए वर्कसाइट्स पर नियुक्त अधिकारियों के समक्ष देह बेचने को बाध्य होना पड़ता है। 'मामरे धरा तारोवाल में वर्ग सत्ता के साथ पितृसत्ता के शोषण को चित्रित किया गया है। इस संबंध में नम्रता पाठक तथा दिब्यज्योति शर्मा लिखते हैं, "In the novel, class struggle is played against the concomitant

patriarchal structures and the overlaps are quite overwhelming. The rebellion of the subalterns, both the women and the labourers, reaches a climex in the murder of the officer by Narayani."[72]

मध्यप्रदेश की सई नदी पर ऐक्वेडक्ट निर्माण कार्य की पृष्ठभूमि पर लिखे गए उपन्यास 'अहिरण'में नन्हीबाई, कदमबाई तथा सोनीबाई इत्यादि ऐसे पात्र हैं जो वर्कसाइट्स पर अस्थाई रूप से नियुक्त कर्मचारियों द्वारा यौन शोषण का शिकार होती हैं। जूनियर इंजीनियर जीवराम दास और टाइमकीपर दुर्योधन ठाकुर द्वारा सामूहिक बलात्कार की शिकार नन्हीबाई की स्थिति का मर्मांतक चित्रण इंदिरा गोस्वामी द्वारा किया गया है। मैनेजर हरसुल गेस्टहाउस का दरवाजा खोलते ही नन्हीबाई को रक्तरंजित साड़ी में वहाँ से भागते देख सब समझ जाता है। "हरसुल को समझने में देर नहीं लगी। कुछ समय के लिए बाई सामूहिक संपत्ति बन गई थी। "[73]

कृष्णा सोबती तथा इंदिरा गोस्वामी ने निज अनुभवों के आधार पर कार्यस्थलों पर स्त्री अस्मिता के संकट को चित्रित किया है। अपने आत्मकथात्मक उपन्यास 'गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिंदुस्तान' में कृष्णा सोबती ने इन तथ्यों का जिक्र किया है कि किस प्रकार स्त्री होने के नाते उन्हें नौकरी में गंभीरता से नहीं लिया जा रहा था। 'गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिंदुस्तान' का प्रकाशन 2017 में हुआ था किन्तु इसके तार विभाजन के तुरंत बाद ही कृष्णा सोबती की पहली नौकरी से जुड़े हुए हैं। कृष्णा सोबती का संघर्ष, विभाजन के बाद भारत में आत्मनिर्भरता के लिए एक स्त्री के संघर्ष को दर्शाता है। कृष्णा सोबती अपने दम पर नौकरी के लिए प्रयास करना चाहती हैं परंतु जहां गुजरात के सिरोही राज्य में उन्हें शरणार्थी की तरह देखा जाता है वहीं स्त्री होने के नाते उन्हें आवेदित पद का योग्य और गंभीर उम्मीदवार भी नहीं समझा जाता।

इंदिरा गोस्वामी ने अपनी आत्मकथा 'जिंदगी कोई सौदा नहीं' में इस बात का जिक्र किया है कि पति की मृत्यु के बाद अवसाद से जूझते हुए उन्होंने गोलपाड़ा के सैनिक स्कूल में अध्यापन का

कार्य किया। इस दौरान वह विभिन्न पुरुष सहकर्मियों के संपर्क में आई। अपनी आत्मकथा में वह इस तथ्य को उजागर करती हैं कि इन पुरुष सहकर्मियों में कुछ ऐसे भी थे जो उनके साथ मात्र दैहिक संबंध बनाने के इच्छुक थे। इंदिरा गोस्वामी लिखती हैं, "यह सच है कि दो-एक ऐसे लोगों को देखने से सारी पुरुष जाति को वैसा ही मान लेना मूर्खता है। लेकिन यह भी सच है कि नारी की अपेक्षा पुरुष में पाशविक प्रवृत्तियाँ कहीं अधिक होती हैं। ज्ञानी-गुणी पुरुष भी इसे कदाचित ही बदल पाएं। "[74]

3.7- सामूहिक हिंसा की त्रासदियाँ और स्त्री अस्मिता का संकट

इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि युद्ध, विभाजन तथा दंगे इत्यादि सामूहिक हिंसा की घटनाएं मानव समाज की विद्रुप तस्वीरें प्रस्तुत करती हैं परंतु इन घटनाओं का विश्लेषण करने पर यह सत्य उजागर होता है कि सामूहिक हिंसा की इन त्रासदियों की चौतरफा मार स्त्रियों के हिस्से में आती है। प्राचीन समय में युद्ध की स्थिति में एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य को पराजित करने पर विजित सत्ता द्वारा महिलाओं का अपहरण और हर स्तर पर शोषण आम घटना थी। दो समुदायों के बीच हिंसा में पहला निशाना महिलाओं को ही बनाया जाता है। कमला भसीन तथा ऋतु मेनन ने अपनी पुस्तक 'बॉर्डर्स एण्ड बॉउन्ड्रीज: विमेन इन इंडिया पार्टिशन' में इस तथ्य का जिक्र किया है कि इतिहास की भयानक त्रासदी को स्त्री दृष्टिकोण से देखने की बहुत आवश्यकता है। भारत विभाजन के दौरान महिलाओं के साथ हुई हिंसा के विषय में वे लिखती हैं, "The most predictable form of violence experienced by women, as women is when the women of one community are sexually assaulted by the men of the other, in an overt assertion of their identity and a simultaneous humiliation of the other by 'dishonouring' their women. In this respect, the rape and molestation of Hindu, Muslim and Sikh women before and after partition probably followed the familiar pattern of sexual violence, and of attack, retaliation and

reprisal."[75] सामूहिक हिंसा की ये घटनाएं स्त्री की स्वतंत्र नागरिकता पर भी प्रश्न उठाती हैं, और विश्लेषण से यह तथ्य सामने आता है कि नागरिकता की अवधारणा भी लैंगिक विभेद के आधार पर बनाई गई है, "The question: do women have a country? Is often followed by: are they full-fledged citizens of their countries? Recent feminist research has demonstrated how citizen and state subject are gendered categories, by examining how men and women are treated unequally by most states-but especially post-colonial states-despite constitutional guarantees of equality."[76]

आशारानी व्होरा अपनी पुस्तक 'भारतीय नारी:दशा और दिशा' में लिखती हैं, "आजादी के समय भारत विभाजन से उठे सांप्रदायिक दंगों में भी महिलाओं को कम कष्ट नहीं सहने पड़े। घर-बार छूटे, परिवार बिखरे, अस्मत लूटी और अनेकों स्त्री-जीवन बर्बाद हुए। इस तरह आजादी की कीमत स्त्रियों ने पुरुषों से कहीं अधिक चुकाई।"[77]

कृष्णा सोबती ने 'गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिंदुस्तान' में विभाजन की त्रासदी तथा इंदिरा गोस्वामी ने 'तेज आरू धूलि धूसरित पृष्ठो' में 1984 के सिख विरोधी दंगे की विभीषिका का मार्मिक चित्रण किया है।

कृष्णा सोबती ने विभाजन की विभीषिका को अपनी आँखों से देखा था। अपनी रचनाओं, लेखों तथा साक्षात्कारों द्वारा कृष्णा सोबती ने विभाजन की त्रासदी में महिलाओं के शोषण का मर्मांतक वर्णन प्रस्तुत किया है। कृष्णा सोबती अपने एक साक्षात्कार में कहती हैं, "शरणार्थियों के परिवार जब मिलते हैं तो वे विभाजन के बारे में बात नहीं करते क्योंकि यह एक बेहद दुखद विषय है। यह सभी को कष्ट देता है, खासतौर पर महिलाओं को। ज्यादातर परिवारों ने अतीत को भुलाने के लिए खुद को समय के हवाले कर दिया है। यहाँ तक कि उन्होंने पीछे छूट गई या मारी गई औरतों के नाम तक भुला दिए हैं। ... दोनों तरफ की औरतों को बहुत ही ज्यादा कीमत चुकानी पड़ी। वे भीड़

की हिंसा का शिकार थीं। "[78] अपने ही परिवार द्वारा स्त्रियों को भुला देना या उन्हें मार देना ताकि परिवार की मान-मर्यादा बची रहे, इसका जिक्र इतिहासकारों द्वारा भी किया गया है। इतिहासकार सलिल मिश्र ने अपने लेख 'Tregedy of Partition' में लिखा है कि "पितृसत्तावादियों ने अपने ही घर की औरतों को किसी और के द्वारा बेइज्जत हो जाने से बचाने के लिए स्वयं ही मौत के घाट उतार दिया। उन्हें अपने घर की औरतों को मार देना एकमात्र सम्मानजनक विकल्प लगा होगा।"[79] "उर्वशी बूटालिया ने मौखिक इतिहास पद्धति पर लिखी गई किताब 'The other side of silence: Voices from the Partition of India' में अपने ही घर की स्त्रियों को अपने ही घर के लोगों द्वारा मार दिए जाने का विस्तार से विवेचन किया है।"[80]

कृष्णा सोबती ने अपने आत्मकथात्मक उपन्यास 'गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिंदुस्तान' में इस तथ्य का भी जिक्र किया है कि भीड़ की हिंसा का शिकार होने के साथ ही महिलाएं शरणार्थी कैंपों में भी सुरक्षित नहीं थीं। उपन्यास में शरणार्थी कैंप की एक लड़की रातों-रात गायब हो जाती है। "सुबह थानेदार के आते ही कैंप में खबर फैल गई कि कैंप की एक लड़की पहाड़ी पर बेहोश मिली है। रात उससे कुकर्म किया गया है। अब अस्पताल में है। "[81]

उपन्यास 'डार से बिछुड़ी' वर्चस्व, शक्ति और सत्ता की लड़ाई का एक स्त्री के जीवन पर पड़ने वाले दुष्प्रभावों पर प्रकाश डालता है। अंग्रेज और खालसा सैनिकों के मध्य गुजरात के चिलियाँवाले मैदान में 1849 में हुई तीसरी लड़ाई में अंग्रेजों ने पंजाब को अपने कब्जे में ले लिया था। खालसा सैनिक मझले की लड़ाई में मृत्यु हो जाने से पाशो एक बार फिर अकेले हो जाती है, "हाथ से बिछौना टटोला और किसी का नाम ले समेट दिया। नाक की लौंग और हाथ की चूड़ियाँ उतार भू पर जा बैठी।"[82] यहाँ से उसे मलिक सरदार के यहाँ शरण मिलती है जो पाशो को अपनी बहन मान कर उसकी रक्षा का वचन लेता है। मलिक सरदार की युद्ध में मृत्यु के बाद पाशो को कैम्प ले आया जाता है जहाँ वह अपनी माँ से मिलती है। उपन्यास 'डार से बिछुड़ी', सीमाओं पर लड़े जा रहे युद्ध के दौरान अपनी जगह से लगातार विस्थापित होती स्त्री की त्रासदी को चित्रित करता है।

असमिया साहित्यकार इंदिरा गोस्वामी ने इंदिरा गांधी की हत्या के पश्चात 1984 में दिल्ली में हुए सिख दंगों की त्रासदी को अपनी आँखों से देखा था। दंगों की आँखों देखी त्रासदी के आधार पर लिखे गए उपन्यास 'तेज आरु धूलि धूसरित पृष्ठो' में दंगों की विभीषिका के साथ ही विभाजन के दौरान महिलाओं पर हुए क्रूर अत्याचारों को भी लिपिबद्ध किया गया है। उपन्यास के तीन प्रमुख पात्र ऑटो रिक्शा चालक संतोष सिंह, कबाड़ी वाला बलबीर सिंह और सिख बाबा के माध्यम से अल्पसंख्यक सिख समुदाय के नरसंहार का मार्मिक वर्णन किया है। उपन्यास की शैली आत्मकथात्मक है। परंतु उपन्यास का फलक व्यापक है वह लेखिका के निजी अनुभवों से ऊपर उठ कर ऐसा दस्तावेज बन जाता है जो स्वतंत्र भारत में बहुसंख्यक समुदाय द्वारा अल्पसंख्यकों पर किए गए अत्याचारों का ब्यौरा प्रस्तुत करता है इस संबंध में प्रो. हिमाद्रि बंदोपाध्याय लिखते हैं, "The account of the Delhi riot is no longer just an autobiography of an authoress, but a serious attempt at reconstructing the traumatic experiences of a minority community suffering at the hands of the majority population in an independent country."[83]

इन सिख दंगों में संतोष सिंह की निर्मम हत्या कर दी जाती है। कबाड़ीवाला बलबीर सिंह दंगों के बाद भी लापता रहता है। बलबीर सिंह ने अपनी मेहनत की कमाई लेखिका के घर में रखी थी ताकि वह सुरक्षित रह सके। बलबीर सिंह के लापता होने के बाद लेखिका पैसों का सन्दूक बलबीर सिंह की पत्नी को देती है पर उसकी पत्नी यह कह कर मना कर देती है कि बलबीर सिंह ने इन पैसों के बारे में उसे कुछ नहीं बताया। लेखिका के यह कहने पर कि वह अपने बेटे सोनू से पूछ सकती है क्योंकि सोनू लेखिका को पहचानता है। बलबीर की पत्नी सोनू को उढ़ाई गई चादर उठा देती है। सोनू की आँखों में तलवार घोंप दी गई थी। यह देख कर लेखिका की चीख निकल जाती है, "The mother takes off the sheet covering sonnu. All three of us cry out in shock. Both of Sonnu's eyes are bandaged. The mother says, "His eyes were pierced

with a sword. Take away these boxes, I can't keep them."[84] इंदिरा गोस्वामी ने यह दिखाने के कोशिश की है कि दंगों में मारे गए और लापता लोगों के साथ ही उनका परिवार और उससे जुड़े लोग भी बुरी तरह प्रभावित होते हैं। इस संबंध में नवदीप ढिल्लन अपने आलेख 'नैरेटिव स्टैंड इन ब्लड: ए क्रिटिकल एनालिसिस ऑफ पेजेज स्टैन्ड विद ब्लड' में लिखते हैं, "The narrative brings out a harsh reality to the forefront that the impact of atrocities and brutality is not only the people directly affected by it but it is also on the others who are associated with the victims and even those who hear and read about such inhumanity."[85]

दंगों में बेघर हुए सिख परिवार की स्त्रियों को जब कैम्प से वापस उनके अपने घर ले जाने का प्रयास किया जाता है तो वे कहती हैं कि जब वहाँ कुछ बचा ही नहीं तो ऐसे घर लौट कर भी क्या होगा? "The women shout, "what's there to go back to? What is left?"[86] सरकार द्वारा मुआवजे के लिए फॉर्म भरवाए जा रहे थे, परंतु कहीं-कहीं स्थिति ऐसी थी कि परिवार में वृद्ध, निरक्षर स्त्रियाँ हीं बचीं थीं जो फॉर्म भी नहीं भर सकती थीं, "Suddenly, a middle aged woman on her knees before men and clasps my legs. She has a form in her hands. She pleads, Please fill in this form for me. For God's sake! I have no one left. No one has survived."[87]

उपन्यास के एक चरित्र सिख बाबा की बेटी कुलदीप कौर विभाजन के समय शरणार्थियों से भरी बस से गायब हो जाती है जिसका मृत शरीर नग्न अवस्था खानखाना साहिब बॉर्डर के पास में खेतों में मिलता है। पूरे उपन्यास में सिख बाबा का चरित्र मौन चित्रित किया गया है। सिख बाबा के पात्र के माध्यम से इंदिरा गोस्वामी ने सिख समुदाय के दोहरे विस्थापन की पीड़ा को भी चित्रित किया है। भारत विभाजन के समय जहाँ सिख बाबा अपने परिवार को खो देते हैं और जीवन भर के लिए मौन हो जाते हैं। वहीं 1984 के सिख विरोधी दंगे उन्हें एक बार फिर से विस्थापित करते हैं। टी.

एस. सत्यनाथ अपने आलेख 'रीडिंग थ्रू पेजेज स्टेन्ड विद ब्लड' में सिख बाबा के पात्र के विषय में लिखते हैं, "Sikh baba's personality is clearly reflected not only in the epithet 'sant' used for him by the narrator but also through his action. His deep silence, sadness, constant searching and concern others link not only the 1984 riots with the aftermath of Partition, but they seemed associated also with similar incidents such as the looting, killing and devastation of Delhi by Nadir Shah and the Rebellian of 1857. Thus 'Pages Stained With Blood', wherever they may come from, constitute a meta-narrative."[88]

इंदिरा गोस्वामी के उपन्यास 'अहिरण' में भी वर्कसाइट पर धोबी का काम करने वाले अजीज मियां के माध्यम से बंटवारे के दौरान महिलाओं की त्रासद स्थिति का वर्णन किया गया है। लाहौर से प्राण बचा कर भागे हिंदुओं के द्वारा अजीज मियां के बड़े भाई हजरत मियां की हत्या कर दी गई थी। बूढ़ी माँ को हिंदुस्तान छोड़ अजीज मियां को पाकिस्तान भागना पड़ा था। इनके शुभचिंतक उन्हें सलाह देते हैं, "भाग मियाँ, रावलपिंडी भाग। लाहौर से भागे हुए हिंदू सबको काट-मार कर खत्म कर देंगें क्योंकि उन्होंने भी औरतों-बच्चों को खोया है। पर माँ को लेकर भागना मुश्किल हो गया। "[89]

निष्कर्ष:

स्त्री की पारिवारिक और सामाजिक दोयम स्थिति से उत्पन्न स्त्री अस्मिता संकट को कृष्णा सोबती तथा इंदिरा गोस्वामी ने अपने उपन्यासों में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। जहां इंदिरा गोस्वामी धार्मिक कुप्रथाओं को स्त्री अस्मिता के संकट के मूल आधार के रूप में देखती हैं वहीं कृष्णा सोबती ने पारिवारिक दायित्वों के बोझ तथा संयुक्त परिवारों की जटिलताओं को स्त्री अस्मिता के संकट के मुख्य कारक के रूप में चित्रित किया है।

कृष्णा सोबती ने अशिक्षा से उत्पन्न स्त्री अस्मिता के संकट पर अपेक्षाकृत कम लिखा है। 'डार से बिछुड़ी' में पाशो के माध्यम से वह अशिक्षा को पाशो की दुर्दशा के मुख्य कारक के रूप में गिनती हैं। उपन्यास 'चन्ना' में चन्ना की माँ शीला को कम पढे-लिखे होने के कारण पति धर्मपाल द्वारा त्याग दिया जाता है। इंदिरा गोस्वामी ने अशिक्षा से उत्पन्न स्त्री अस्मिता के संकट के विषय में अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से लिखा है। 'छिन्नमस्ता' तथा 'दांताल हाथिर उने खोवा हौदा' में कई स्त्री पात्र ऐसे हैं जो अशिक्षा और पिछड़ेपन की वजह से अपने अधिकारों से वंचित रह जाते हैं। इस अंतर का एक कारण यह हो सकता है कि स्त्री शिक्षा के आंकड़ों के अनुसार पंजाब में स्त्रियों का शिक्षा स्तर बिहार, असम, मध्यप्रदेश इत्यादि की तुलना में बेहतर है। कृष्णा सोबती के प्रायः सभी पात्र पंजाब की पृष्ठभूमि से आते हैं जबकि इंदिरा गोस्वामी के अशिक्षित स्त्री पात्र मुख्यतः बिहार, असम तथा मध्यप्रदेश की पृष्ठभूमि से आते हैं।

विवाहेतर संबंधों से उत्पन्न स्त्री अस्मिता के संकट को भी दोनों साहित्यकारों द्वारा चित्रित किया गया है। कृष्णा सोबती के उपन्यास 'दिलोदानिश' की कुटुंबप्यारी और इंदिरा गोस्वामी के उपन्यास 'छिन्नमस्ता' की डोरोथी, दोनों ही महिलाएं अपने पतियों के विवाहेतर संबंध से भीतर तक आहत हैं। डोरोथी ब्राउन का इस विवाहेतर संबंध के प्रति विरोध का आधार कुटुंबप्यारी की भांति स्वार्थ और लालच नहीं है। कुटुंबप्यारी की भांति, पति से तरह-तरह के गहनों की माँग करने के बजाय डोरोथी अपने पति हेनरी का घर छोड़ देती है तथा उसकी संपत्ति पर भी अपना अधिकार नहीं जताती। इंदिरा गोस्वामी के उपन्यास 'छिन्नमस्ता' में पति हेनरी ब्राउन के खासी महिला से संबंध से आहत डोरोथी ब्राउन का कृष्णा सोबती के उपन्यास 'चन्ना' में शीला से साम्य है। शीला तथा डोरोथी दोनों ही पति के विवाहेतर संबंध का उत्तर शांत और संयत रहकर देती हैं और ऐसे घर को छोड़ने में अपनी भलाई समझती हैं जहां उनका सम्मान नहीं है। शीला तथा डोरोथी से सर्वथा भिन्न कुटुंब प्यारी है। कुटुंब प्यारी ढोंगी बाबा से संबंध बनाकर पति कृपानारायण के महकबानों से संबंधों का प्रतिकार करती है।

कामकाजी स्त्री द्वारा घर की चारदीवारी के बाहर अपने पैरों पर खड़े होने के लिए कार्यस्थल पर किन-किन चुनौतियों का सामना करना पड़ता है, इसका चित्रण दोनों साहित्यकारों द्वारा अपनी रचनाओं में किया गया है। कार्यस्थल पर स्त्री अस्मिता का संकट शिक्षित तथा अशिक्षित दोनों वर्ग की महिलाओं के लिए है। कृष्णा सोबती ने कामकाजी मध्यवर्गीय शिक्षित महिलाओं के जीवन को उभारा है तो इंदिरा गोस्वामी के उपन्यासों में श्रमजीवी स्त्रियों का अस्मिता संकट अधिक उभर कर आया है। उनकी समस्याएं निर्धन और हरिजन होने के कारण और भी कठिन तथा जटिल है। इंदिरा गोस्वामी ने सोनी, पार्वती तथा नारायणी इत्यादि श्रमिक स्त्री पात्रों के माध्यम से वर्कसाइट्स पर स्त्रियों के चौतरफा शोषण को बहुत बारीकी से विश्लेषित और चित्रित किया है।

कृष्णा सोबती ने 'डार से बिछुड़ी', 'चन्ना' तथा 'दिलोंदानिश' के माध्यम से तत्कालीन पंजाबी समाज में वैधव्य की कठिनाइयों का वर्णन प्रस्तुत किया है। इंदिरा गोस्वामी ने वैधव्य से जुड़े अस्मिता संकट को अपेक्षाकृत अधिक व्यापक पटल पर चित्रित किया है। 'दक्षिणी कामरूप की गाथा' के माध्यम से जहां इंदिरा गोस्वामी ने असम के वैष्णव सत्रों में विधवाओं के रूढ़िगत कर्मकांडों में बंधे जीवन को प्रस्तुत किया है वहीं 'नीलकंठी ब्रज' द्वारा उन्होंने सम्पूर्ण भारतीय समाज में विधवाओं के त्रासदपूर्ण जीवन को चित्रित किया है। दोनों साहित्यकारों के उपन्यासों में वैधव्य से जुड़े स्त्री अस्मिता के संकट का तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह तथ्य सामने आता है कि भारत के प्रायः सभी राज्यों में विधवाओं की स्थिति दयनीय है परंतु असम में धार्मिक कर्मकांडों की रूढ़िवादी जटिलताओं के कारण विधवाओं की स्थिति अपेक्षाकृत अधिक त्रासपूर्ण तथा कष्टप्रद है। यहाँ यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि पूर्वोत्तर में गारो, खासी, जयंतिया तथा निचले असम की कुछ जनजातियाँ मातृस्थानिक तथा मातृवंशीय हैं। इन जनजातियों में पारिवारिक व्यवस्था अपेक्षाकृत कम सामंतवादी होती है। इंदिरा गोस्वामी ने जहाँ 'नीलकंठी ब्रज' तथा 'दक्षिणी कामरूप की गाथा' उपन्यासों में पितृसत्तात्मक व्यवस्था में विधवाओं की दयनीय स्थितियों को उजागर किया है, वहाँ अपने अंतिम उपन्यास 'थेंगफाखरी तहसीलदारेर ताँबार तारोवाल' में

मातृस्थानिक तथा मातृवंशीय व्यवस्था में विधवा स्त्री की समाज में बेहतर स्थिति का चित्रण भी किया है। इस उपन्यास में निचले असम की बोडो जनजाति की बाल विधवा नायिका थेंगफाखरी के जीवन को अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्र चित्रित किया गया है। वह स्वाधीन है, स्वतंत्र निर्णय लेने में सक्षम है। उसके वर्चस्व को पूरा समाज आदर भाव से स्वीकारता है। इस प्रकार इंदिरा गोस्वामी ने पितृसत्तात्मक समाज तथा मातृस्थानिक और मातृवंशीय समाज में वैधव्य जीवन के अंतरों को चित्रित किया है।

कृष्णा सोबती तथा इंदिरा गोस्वामी भारत में दो भिन्न काल सीमाओं में घटित भीषणतम सामूहिक हिंसा की गवाह रही हैं। कृष्णा सोबती भारत विभाजन के दौरान लाहौर में पढ़ रही थीं। विभाजन पश्चात उन्हें लाहौर के फतेहचंद कॉलेज का हॉस्टल छोड़ दिल्ली आना पड़ा। विभाजन की त्रासदी को उन्होंने बहुत करीब से देखा था। इसका मर्मांतक वर्णन उनकी विभिन्न रचनाओं में मिलता है। इन मानव त्रासदियों द्वारा किस प्रकार स्त्रियाँ सर्वाधिक भुक्तभोगी रही हैं इसका वर्णन भी उनकी रचनाओं में मिलता है। इंदिरा गोस्वामी भारत विभाजन के समय उम्र में बहुत छोटी थीं परंतु 1984 के सिख दंगों के दौरान वह दिल्ली में ही थीं। 'तेज आरु धूलि धूसरित पृष्ठो' द्वारा इंदिरा गोस्वामी ने सिख दंगों की विभीषिका के साथ ही विभाजन के दौरान स्त्रियों के साथ हुई यौनिक हिंसा का भी वर्णन किया है। सामूहिक हिंसा में स्त्रियों के साथ होने वाले बलात्कार और मार-काट को दोनों ही साहित्यकारों द्वारा लिपिबद्ध किया गया है।

संदर्भ सूची-

[1] पाठक, (प्रो.) आर.सी (2011), भार्गव शब्दकोश (इंग्लिश-हिन्दी), श्री गंगा पुस्तकालय, वाराणसी, पृष्ठ- 302

[2] बोउवार, सिमोन (1992), स्त्री उपेक्षिता, हिंदी रूपांतर: डॉ. प्रभा खेतान, हिन्द पॉकेट बुक्स, दिल्ली, पृष्ठ-344

[3] बोउवार, सिमोन (2011), द सेकंड सेक्स, विंटेज बुक्स, न्यूयॉर्क, (विंटेज ई बुक्स) पृष्ठ-41

[4] अग्रवाल, रोहिणी (2014), साहित्य की जमीन और स्त्री-मन के उच्छवास, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ- 57

[5] हरारी, युवाल नोआह (2011), सेपियंस, विंटेज प्रकाशन, लंदन, पृष्ठ- 166

[6] सुजाता (2019), स्त्री निर्मिति, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ- 67

[7] वही, पृष्ठ- 67

[8] मेनन, निवेदिता (2021), नारीवादी निगाह से, अनुवाद: नरेश गोस्वामी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ- 7

[9] चक्रवर्ती, उमा, आर्य, साधना (संपा.) (2021), स्त्री अध्ययन: एक परिचय, अनुवाद संपादक- विजय झा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ- 233

[10] मेनन, निवेदिता (2021), नारीवादी निगाह से, अनुवाद: नरेश गोस्वामी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ- 22

[11] अग्रवाल, रोहिणी (2014), साहित्य की जमीन और स्त्री-मन के उच्छवास, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ- 58

[12] वही, पृष्ठ- 61

[13] खेतान, प्रभा (2014), उपनिवेश में स्त्री, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ - 119

[14] शंभुनाथ (संपा.) (2019), हिंदी साहित्य ज्ञान कोश-खंड 1, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ- 373

[15] शास्त्री, पंडित हरिशंकर, (संपा.) (2019), मनुस्मृति, साक्षी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ- 279

[16] चक्रवर्ती, उमा, आर्य, साधना (संपा.) (2021), स्त्री अध्ययन: एक परिचय, अनुवाद संपादक- विजय झा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ- 252

[17] चतुर्वेदी, जगदीश्वर (2018), स्त्रीवादी साहित्य विमर्श, अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, पृष्ठ- 175

[18] शास्त्री, पंडित हरिशंकर, (संपा.) (2019), मनुस्मृति, साक्षी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ- 75

[19] वर्मा, महादेवी (2017), शृंखला की कड़ियाँ, लोकभारती पेपरबैक्स, इलाहाबाद, पृष्ठ- 35

[20] सोबती, कृष्णा (2018), लेखक का जनतंत्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ- 202

[21] वही, पृष्ठ- 26

[22] सोबती, कृष्णा (2018), डार से बिछुड़ी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ- 91

[23] वही, पृष्ठ- 83

[24] अग्रवाल, रोहिणी (2010), एक नजर कृष्णा सोबती पर, अखिल भारती प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ- 32

[25] सोबती, कृष्णा (2016), मित्रो मरजानी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ- 12

[26] वही, पृष्ठ- 18

[27] वही, पृष्ठ- 20

[28] सोबती, कृष्णा (2016), ऐ लड़की, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ- 57

[29] वही, पृष्ठ- 58

[30] वही, पृष्ठ- 68

[31] सोबती, कृष्णा (2018), दिलोदानिश, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ- 98

[32] चतुर्वेदी, जगदीश्वर (2018), स्त्रीवादी साहित्य विमर्श, अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, पृष्ठ- 26

[33] गोस्वामी, इंदिरा (1997), दक्षिणी कामरूप की गाथा (हिंदी अनुवाद- श्रवण कुमार), साहित्य अकादमी, दिल्ली, पृष्ठ- 14

[34] वही, पृष्ठ- 14

[35] चतुर्वेदी, जगदीश्वर (2018), स्त्रीवादी साहित्य विमर्श, अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, पृष्ठ- 159

[36] वही, पृष्ठ- 160

[37] चक्रवर्ती, उमा, आर्य, साधना (संपा.) (2021), स्त्री अध्ययन: एक परिचय, अनुवाद संपादक- विजय झा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ- 253

[38] आहुजा, राम (2009), सोशल प्रॉब्लम्स इन इंडिया, रावत प्रकाशन, जयपुर, पृष्ठ- 268

[39] सोबती, कृष्णा (2018), डार से बिछुड़ी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, भूमिका

[40] वही, पृष्ठ- 20

[41] गोस्वामी, इंदिरा (1997), दक्षिणी कामरूप की गाथा (हिंदी अनुवाद- श्रवण कुमार), साहित्य अकादमी, दिल्ली, पृष्ठ- 31

[42] वही, पृष्ठ- 27

[43] वही, पृष्ठ- 216

[44] गोस्वामी, इंदिरा (2013), छिन्नमस्ता (हिंदी अनुवाद- पापोरी गोस्वामी), भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, पृष्ठ- 40

[45] वही, पृष्ठ- 41

[46] रमाबाई (पं.) (2010), हिंदू स्त्री का जीवन, अनुवाद: शंभू जोशी, संवाद प्रकाशन, मेरठ, पृष्ठ- 73

[47] चक्रवर्ती, उमा, आर्य, साधना (संपा.) (2021), स्त्री अध्ययन: एक परिचय, अनुवाद संपादक- विजय झा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ- 253

[48] कस्तवार, रेखा (2016), स्त्री चिंतन की चुनौतियाँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ- 62

[49] वही, पृष्ठ- 69

[50] सोबती, कृष्णा (2018), डार से बिछुड़ी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ- (66-67)

[51] सोबती, कृष्णा (2018), दिलोदानिश, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-143

[52] वही, पृष्ठ- 101

[53] वही, पृष्ठ- 101

[54] सोबती, कृष्णा (2019), चन्ना, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ- (236-237)

[55] गोस्वामी इंदिरा, दक्षिणी कामरूप की गाथा, अनुवाद: नरेश गोस्वामी, साहित्य अकादमी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. सं.- 14

[56] गोस्वामी, इंदिरा (1997), दक्षिणी कामरूप की गाथा (हिंदी अनुवाद- श्रवण कुमार), साहित्य अकादमी, दिल्ली, पृष्ठ- 110

[57] पाठक, नम्रता, शर्मा, दिब्यज्योति (संपा.) (2022), इंदिरा गोस्वामी: मार्जिन्स एण्ड बिऑन्ड, रुतलेज प्रकाशन, न्यूयॉर्क, पृष्ठ- 222

[58] गोस्वामी, इंदिरा (2010), नीलकंठी ब्रज (हिंदी अनुवाद- दिनेश द्विवेदी), भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, पृष्ठ- 14

[59] वही, पृष्ठ- 16

[60] वही, पृष्ठ- 18

[61] वृंदावन की विधवाओं पर 'नैशनल कमीशन फॉर वुमन' की रिपोर्ट, https://ncwapps.nic.in/pdfReports/WidowsAtVrindavanReport.pdf ,

[62] सोबती, कृष्णा (2018), दिलोदानिश, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ- 147

[63] वही, पृष्ठ- 62

[64] सोबती, कृष्णा (2019), चन्ना, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ- 60

[65] गोस्वामी, इंदिरा (2010), नीलकंठी ब्रज (हिंदी अनुवाद- दिनेश द्विवेदी), भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, पृष्ठ- 51

[66] गोस्वामी, इंदिरा (1997), दक्षिणी कामरूप की गाथा (हिंदी अनुवाद- श्रवण कुमार), साहित्य अकादमी, दिल्ली, पृष्ठ-109

[67] सोबती, कृष्णा (2010), यारों के यार, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ- 38

[68] वही, पृष्ठ- 41

[69] अग्रवाल, रोहिणी (2000), एक नजर कृष्णा सोबती पर, अखिल भारती प्रकाशन, दिल्ली , पृष्ठ- 81

[70] वर्मा, महादेवी (2017), शृंखला की कड़ियाँ, लोकभारती पेपरबैक्स, इलाहाबाद, पृष्ठ- 25

[71] पाठक, नम्रता, शर्मा, दिब्यज्योति (संपा.) (2022), इंदिरा गोस्वामी: मार्जिन्स एण्ड बिऑन्ड, रुतलेज प्रकाशन, न्यूयॉर्क, पृष्ठ- 267

[72] वही, पृष्ठ- 5

[73] गोस्वामी, इंदिरा (2015), अहिरण (हिंदी अनुवाद- बुद्धदेव चटर्जी), भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, पृष्ठ- 57

[74] गोस्वामी, इंदिरा (1999), जिंदगी कोई सौदा नहीं, हिंदी अनुवाद: नीता बनर्जी, हिंद पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली, पृष्ठ- 81

[75] मेनन, ऋतु तथा भसीन, कमला (संपा.) (2018), बॉर्डर्स एण्ड बॉउन्ड्रीज: विमेन इन इंडिया पार्टिशन, काली फॉर वुमन, नई दिल्ली, पृष्ठ- 41

[76] वही, पृष्ठ- 251

[77] व्होरा, आशारानी (1983), भारतीय नारी: दशा, दिशा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृष्ठ-17

[78] सोबती, कृष्णा (2018), लेखक का जनतंत्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ- 45

[79] भूटिया, (डॉ.) चूकी (संपादक), पूर्वोत्तर प्रभा, प्रवेशांक, (जनवरी-जून 2021), पृष्ठ- 102

[80] वही

[81] सोबती, कृष्णा (2017), गुजरात पकिस्तान से गुजरात हिंदुस्तान, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ- 166

[82] सोबती, कृष्णा (2018), डार से बिछुड़ी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ- 100

[83] बरुआ, मंजीत (संपा.) (2007), इंदिरा गोस्वामी: ए कॉम्पाइलेशन ऑन हर लाइफ, वर्क्स एण्ड अचीवमेंट, बी. आर. प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ- 44

[84] गोस्वामी, इंदिरा (2002), पेजेज स्टेंड विद ब्लड, अंग्रेजी अनुवाद: प्रदीप आचार्य, कथा प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-152

[85] ढिल्लन, नवदीप (2013), नैरेटिव स्टेंड इन ब्लड: ए क्रिटिकल एनालीसिस ऑफ इंदिरा गोस्वामीज पेजेज स्टेंड इन ब्लड, लिटरेरी वॉयस, https://www.researchgate.net/publication/362711355 ,पृष्ठ-127

[86] गोस्वामी, इंदिरा (2002), पेजेज स्टेंड विद ब्लड, अंग्रेजी अनुवाद: प्रदीप आचार्य, कथा प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ- 150

[87] वही, पृष्ठ- 153

[88] सत्यनाथ, टी. एस. (जुलाई/ अगस्त 2012), रीडिंग थ्रू द 'पेजेज स्टेंड विद ब्लड', वॉल- 56, https://www.jstor.org/stable/23345888 , पृष्ठ-73

[89] गोस्वामी, इंदिरा (2015), अहिरण (हिंदी अनुवाद- बुद्धदेव चटर्जी), भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, पृष्ठ- 75